UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित एवं सन्दर्भित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादकीय परामर्श मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 11 अङ्क 1

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

अगस्त, **2021**

सम्पादक :
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed & referred ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Advisory Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Editor

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 11 अङ्क 1

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

August, 2021

Editor :
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed in Religious Studies

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	
शोधलेख			
1.	वेदविज्ञान में जीव की सृष्टि यात्रा का शास्त्रीय रहस्य	आचार्य गुलाब कोठारी	1–8
2.	हमारे धार्मिक अनुष्ठानों का मूल आधार : अनुराग	महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री	9–10
3.	तन्त्रागम में शिवतत्त्वविमर्श	प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	11–17
4.	*ब्रह्माण्डपुराणे* शिवागमदृष्टिः	डॉ. चन्द्रकान्ता राय	18–25
5.	काश्मीर शैवागम के *विज्ञानभैरव* में 'भैरवतत्त्व' की नाद–बिन्दु–विसर्गात्मिका समीक्षा	डॉ. प्रदीप	26–33
6.	कुण्डलिनी मन्त्र विधि एवं स्तुति विमर्श	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	34–40
7.	श्रीमद्भगवद्गीताविज्ञानभाष्य : नूतन वैचारिक प्रतिमान	प्रो. सरोज कौशल	41–49

8.	औपनिषदीय मन्त्रयोग विमर्श	योगेशप्रसाद पाण्डेय	50–56
9.	*मनु* एवं *याज्ञवल्क्य स्मृति* में योगशिक्षा एवं प्राणायाम का विवेचन	डॉ. मिथिलेश कुमार शुक्ल	57–65
10.	गायत्री मन्त्र से आध्यात्मिक उन्नति	नवनीत कुमार बाजपेयी	66–71
11.	*Sat* in *Dharma* and *Dhamma* Traditions	Dr. Saroj Kanta Kar	72–91
12.	Transcendental Self : An Epistemic Quest	Dr. Subasini Barik	92–100
13.	Understanding the Seven Steps of Ghatastha Yoga in *Gheranda Saṃhita*	Debiprasad Pramanik	101–104

सम्पादकीय

सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है।

इस अङ्क के प्रथम आलेख 'वेदविज्ञान में जीव की सृष्टि यात्रा का शास्त्रीय रहस्य' में *राजस्थान पत्रिका* के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेदमनीषी गुलाब कोठारी ने देह एवं देही के स्वरूप भेद के आधार पर अमृत एवं मृतत्व की भेद भूमिका सुस्पष्ट की है। सांवत्सरिक यज्ञ, प्रकृति यज्ञ से जीव भाव की सृष्टि किस प्रकार वेद विज्ञान में स्वीकृत है इनमें वैश्वानर, तैजस एवं प्राज्ञ स्वरूप किस प्रकार जीव भाव में सृष्ट होता है। पृथिवी, अन्न, पर्जन्य, शुक्राणु आदि के उत्पत्ति क्रम एवं ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र का हृदय स्वरूप व्याख्यात है। यह आलेख अनुपम शास्त्रीय रहस्य को उन्मीलित करता है जो गहन शास्त्रीय विवेचन है। अत: सादर प्रणाम व अभिनन्दन।

द्वितीय आलेख 'हमारे धार्मिक अनुष्ठानों का मूल आधार : अनुराग' में महोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री जी ने ईश्वर में अनुराग प्रगाढ प्रेम ही भक्ति है या नारद भक्तिसूत्र से प्रतिपादित करते हुए भारत की सांस्कृतिक निधि पर्यावरण के प्रति प्रेम भावना के आधार पर नदी, वृक्ष, पशु का भरणपोषण आदि को मनुष्य की आत्मवृत्ति को करुणामयी तथा प्रेममयी सिद्ध किया है जो समस्त मानवीय धर्मों का आधारभूत है। इस मौलिक चिन्तन हेतु सादर प्रणाम एवं चरण वन्दन।

तृतीय आलेख 'तन्त्रागम में शिवतत्त्वविमर्श' में प्रो. शीतला प्रसाद पाण्डेय ने आगम को तान्त्रिक श्रुति के रूप में सिद्ध किया है तथा इसके विविध अर्थो का सुविवेचन किया है। अन्त में जगत के एकमात्र तत्त्व शिव तत्त्व के निरूपण तथा आत्मशुद्धि के द्वारा उसे जान लेने की प्रक्रिया स्पष्ट कर महनीय कार्य किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

चतुर्थ आलेख '*ब्रह्माण्डपुराणे* शिवागमदृष्टि:' में डॉ. चन्द्रकान्ता राय ने ब्रह्मपुराण का गम्भीर अनुशीलन करते हुए शिव के आगमिक स्वरूप को सुस्पष्ट किया है। महेश्वर की आगमिक साधना को प्रदर्शित करते हुए शिवसालोक्य की प्राप्ति का मार्ग भी प्रतिपादित किया है। एतदर्थ साधर साधुवाद।

पञ्चम आलेख 'काश्मीर शैवागम के विज्ञानभैरव में 'भैरवतत्त्व' की नाद बिन्दु– विसर्गात्मिका समीक्षा' में डॉ. प्रदीप ने विज्ञान भैरव का अध्ययन कर परमशिव का स्वरूप तथा भैरव का त्रिविधात्मक (नाद–बिन्दु–विसर्ग रूप) स्वरूप को सुस्पष्ट किया, एतदर्थ आर्दिक साधुवाद।

षष्ठ आलेख में 'कुण्डलिनी मन्त्र विधि एवं स्तुति विमर्श' में

सप्तम आलेख में 'श्रीमद्भगवद्गीताविज्ञानभाष्य : नूतन वैचारिक प्रतिमान' में डॉ. सरोज कौशल ने मधुसूदन ओझा की अमरकृति गीता विज्ञान भाष्य के रहस्य काण्ड के आधार पर सार रूप में राजर्षि विद्या,

सिद्धविद्या,राजविद्या तथा आर्षविद्या के स्वरूप एवं बुद्धियोग में इसकी भूमिका सुस्पष्ट की है। गीता में पञ्चविध साम्यवाद का भी संक्षिप्त परिचय दिया है। इस महनीय कार्य हेतु सादर नमन व साधुवाद।

अष्टम आलेख 'औपनिषदीय मन्त्रयोग विमर्श' में योगेश पाण्डेय ने उपनिषदों के प्रमाण से मन्त्रयोग की विवेचना प्रस्तुत की है। अत: साधुवाद।

नवम आलेख '*मनु* एवं *याज्ञवल्क्य स्मृति* में योगशिक्षा एवं प्राणायाम का विवेचन' में धर्मशास्त्रीय दृष्टि से योग शिक्षा एवं योगाङ्गों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। एतदर्थ सादर साधुवाद।

दशम आलेख 'गायत्री मन्त्र से आध्यात्मिक उन्नति' में गायत्री मन्त्र का महात्म्य एवं प्रभाव की समीक्षा की गई है।

एकादश आलेख '*Sat* in *Dharma* and *Dhamma* Traditions' में प्रख्यात दार्शनिक प्रवर डॉ. सरोज कान्त कार नेअद्वैत वेदान्त एवं बौद्धदर्शन के ग्रन्थों के प्रामाण्य से सत् का वास्तविक स्वरूप निर्धारित करने का महनीय प्रयास किया है। दोनों दर्शनों—तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञान मीमांसीय—के साम्य एवं वैषम्य के भेदों के आधार की गम्भीर दार्शनिक समक्षा कर महान् उपकार किया है। एतदर्थ सादर साधुवाद।

द्वादश आलेख 'Transcendental Self : An Epistemic Quest' में डॉ. सुवासिनी बारिक ने आत्म-तत्त्व के स्वरूप की ज्ञानमीमांसीय व्याख्या पाश्चात्य मत एवं श्री अरविन्दों के चिन्तन के आधार पर प्रस्तुत की है। इसमें वेदान्त की दृष्टि को सुस्पष्ट करने का महनीय प्रयत्न किया गया है। हार्दिक साधुवाद।

अन्तिम आलेख 'Understanding the Seven Steps of Ghatastha Yoga in *Gheranda Saṃhita*' में घेरण्ड संहिता के घटस्थ योग को परिभाषित किया है। अत: साधुवाद।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

वेदविज्ञान में जीव की सृष्टि यात्रा का शास्त्रीय रहस्य

आचार्य गुलाब कोठारी

वैज्ञानिक दृष्टि से सृष्टि भाव को दो भागों में बांटकर देखना चाहिए—भौतिक एवं रासायनिक। हमारा एक भाग—ईश्वर भाव-अमृत सृष्टि होता है, दूसरा मर्त्य सृष्टि। इसी को आत्मा और शरीर कहते हैं। सूर्य के ऊपर की सृष्टि अमृतलोक है। न वहाँ कुछ दिखाई देता है, न मरता है। कारण यह है कि सोम जो सूर्य पर आहुत होता है, वह परमेष्ठी लोक से आता है। वहाँ अंगिरा और भृगु रूप अग्नि-सोम पैदा होते हैं। स्वयंभू के ऋक्-यत्-जू: साम ये चारों तत्त्व इनसे युक्त होते हैं। अग्नि के तीन रूप-अग्नि-वायु (अथवा यम) आदित्य हैं। इसी प्रकार सोम के भी तीन भाव-आप:-वायु-सोम बनते हैं। सोम ही अग्नि में आहुत होकर तीन प्रकार की सृष्टि का निर्माण करता है—आप्य-वायव्य-सौम्य। ये दस तत्त्व मिलकर 'विराट्' कहलाते हैं। चार स्वयंभू के, छह परमेष्ठी के। परमेष्ठी तथा सूर्य के मध्य में मह:लोक है।

सूर्याग्नि में जो सोम गिरता है वह शुक्र रूप सोम है। ताप से द्रवित सोम वायु है। जो पूर्णत: जल बन गया है, वह आप: है। आप: नीचे बहता है। वर्षा के द्वारा अन्न पैदाकर के क्षर-मर्त्य सृष्टि का निर्माण करता है। वायु अन्तरिक्ष में प्राण रूप कार्य करता है। सोम सूर्य से युक्त होकर आत्मा का निर्माण करता है। '**सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च।**' यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सृष्टि का बीजारोपरण-जीवों का-महद् लोक (सूर्य पूर्व) में हो जाता है। सूर्य के द्वारा जीव की अहंकृति, चन्द्रमा द्वारा प्रकृति एवं पृथ्वी द्वारा आकृति तय हो जाती है। इस प्रकार जीव के निर्माण में सभी तैंतीस देवता योग करते हैं। सूर्य के और पृथ्वी के मध्य में ही आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्यों का स्थान है। दोनों संधियों पर अश्विनी कुमार है।

जो सोम सूर्य पर आहुत होता है, वह सूर्य के ऊपर के आधे भाग पर ही गिरता है। नीचे के आधे भाग पर नहीं गिरता। अमृत के इस अभाव के कारण नीचे की-सूर्य के आगे की-सृष्टि मृत्युलोक कहलाती है। जल तो वर्षा द्वारा सीधा पृथ्वी पर पहुंचकर शरीर निर्माण शुरू कर देता है। वायु अन्तरिक्ष में चन्द्रमा से युक्त होकर प्रकृति-सत्व-रजस-तमस- का कारण बनता है। सूर्य में आहुत सोम विराट् रूप में आत्मा का रूप लेता है। सूर्य अक्षर सृष्टि का केन्द्र है। यहाँ से अक्षर सृष्टि का मर्त्य भाग और क्षर का मर्त्य भाग मिलकर विश्व (स्थूल) का निर्माण करते हैं। अक्षर और क्षर का अमृत भाग सूर्य में विराट् के साथ आत्मा से जुड़ता है।

अग्नि-वायु-आदित्य (देवता) रूप प्राणाग्नियों के संघर्ष से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। इसी के तीन भेद बनते हैं-विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ। जब अग्नि में वायु और आदित्य आहुत होते हैं, तब विराट् बनता है। वायु में अग्नि और आदित्य की आहुतियों से हिरण्यगर्भ बनता है। आदित्य में अग्नि-वायु की आहुति से

सर्वज्ञ का निर्माण होता है। यह अग्नित्रय तत्त्व ही ईश्वर कहलता है। 'त्रयो वा इमे त्रिवृत्तो लोका:-त्रिवृदग्नि' इसी त्रिवृत्त भाव को बता रही है।

विराट् अग्नि प्रधान, हिरण्यगर्भ वायु प्रधान तथा सर्वज्ञ आदित्य प्रधान बना। तीनों क्रमश: अर्थ-क्रिया और ज्ञान प्रधान हैं। इस प्रकार वैश्वानर अग्नि अधिदैवत तथा अध्यात्म का संचालन करता है। विराट् का प्रवर्ग्य (अंश) ही अध्यात्म में वैश्वानर कहा जाता है। हिरण्यगर्भ का प्रवर्ग्य तैजस् तथा सर्वज्ञ का प्रवर्ग्य प्राज्ञ कहलाते हैं। वैश्वानर-तैजस्-प्राज्ञ ईश्वर अंश बनकर 'जीव' कहलाता है। इसी के लिए 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' कहा गया है। ईश्वर तथा जीव ही द्वासुपर्णा-साक्षी एवं 'भोक्ता' कहलाते हैं। इसी के लिए गीता में **'ममैवांशो जीवभूते...।'** कहा गया है। जीव का सम्बन्ध अक्षर प्रकृति से है। आत्मा का सम्बन्ध अव्यय पुरुष से है। मनुष्येतर अन्य प्राणी प्रकृति से संचालित है। मानव स्व पुरुषार्थ से कर्म करता हुआ स्वतन्त्र है।

ब्रह्म पुरुष प्रजापति ही है। **'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्-अहं मनुरभवम्-अहं सूर्य इवाजनि-योऽहं सौऽसौ, योऽसौ-सोऽहम्-पूर्णमद:-पूर्णमिदम्।'**

अर्थात्-पुरुष प्रजापति के निकट है। मैं मनु हुआ। मैं सूर्य के समान उत्पन्न हुआ हूँ। जो मैं हूँ वह वो है। जो वह है, वह मैं हूँ। वह पूर्ण है। यह पूर्ण है।

सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट् भावों से समतुलित प्राज्ञ-तैजस्-वैश्वानर रूप पूर्ण पुरुष ही अपने हृदयस्थ 'मनु' तत्त्व के सम्बन्ध से मानव कहलाया। मनु तो उस प्रकृति सिद्ध तत्त्व का नाम है जो विश्व की मूल प्रतिष्ठा कहा गया है।

सूर्य के नीचे सृष्टि के विभाजन हो जाते हैं। एक सूर्य नियंत्रित आत्मा की सृष्टि चलती है, तो दूसरी ओर नियामक सृष्टि चलती है। भौतिक सृष्टि पुरुष प्रधान है, वहीं आत्म भाव प्राण प्रधान है। चूंकि महद्लोक में तीनों स्वरूप (अहंकृति-प्रकृति-आकृति) निर्धारित हो जाते हैं, अत: आगे जाकर आत्मा अपने शरीर से युक्त हो जाता है। शुक्र का शुक्राणु भौतिक सृष्टि का सूक्ष्म कण है। इसमें भी सृष्टि के सम्पूर्ण तत्त्व तथा शरीर का ढाँचा रहता है। आयु रहती है। जो अक्षर जीव में आएगा, वही यहाँ क्षर-ब्रह्म (प्राण-आप्-वाक्-अन्न-अन्नाद) से सम्बन्ध बनाएगा। दोनों के सूत्र महद् में ही बने थे। शरीर में गति नहीं है, न ही ज्ञान में गति। गति प्राण में होती है, अत: वही मूल में कर्ता माना जाता है।

जीव में वैश्वानर-तैजस्-प्राज्ञ बुद्धि युक्त ही क्रमश: वाक्-प्राण-मन हैं। सूर्य के मन-प्राण-वाक् से उत्पन्न होते हैं। मन-प्राण-वाक् को ही आत्मा कहते हैं। सूर्य ही जगत् का आत्मा कहा जाता है। वसु-रुद्र-आदित्य तीनों का योग ही वैश्वानर अग्नि है। वसु घन रूप अग्नि है—पृथ्वी का अग्नि है। इसी से अन्न का निर्माण होता है। शरीर में भी इसी वैश्वानर अग्नि में अन्न आहुत होता है। अत: शरीर विराट् अग्नि का निर्माण ही है। इसमें पार्थिव अग्नि की प्रधानता रहती है।

सूर्य ब्रह्माण्ड का हृदय है—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र का स्थान है। इन्हीं तीनों अग्नि प्राणों से जीव का भी हृदय निर्मित होता है। सूर्य के अमृत भाव का हृदय जीव के मर्त्य स्वरूप के हृदय से जुड़कर क्षर ब्रह्म (मर्त्यक्षर) का

केन्द्र बन जाता है। यही शरीर में सूक्ष्म शरीर में रूप प्रवेश करता है। इसी के साथ आत्मा- कारण शरीर-रहता है। प्राणों के द्वारा उचित काल में जीव प्रवेश पाता है। माता को शिशु के अंग संचालन से इस का ज्ञान हो जाता है।

हिरण्यगर्भ वायु प्रधान अग्नि है। तरल रूप-अन्तरिक्ष का रौद्र अग्नि है। सूर्य अक्षर सृष्टि है-ब्रह्माण्ड का हृदय है। इस के तीनों प्राण भी स्थूल सृष्टि का हृदय (ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-प्राण) बनते हैं। सूर्य देव (आसुरी) सृष्टि का प्रभव है। अत: हिरण्यगर्भ से जो तैजस् निर्मित होता है, वह इन दोनों प्राणों का सम्मिलित रूप ही है। तैजस् के अन्तरिक्ष प्राणों से हमारा ओज बनता है। अन्न के माध्यम से तथा खुले आसमान से हमको प्राप्त होता है।

सूर्याग्नि पृथ्वी तक आते-आते घन से तरल-विरल होता जाता है। अन्तरिक्ष में चन्द्रमा की सौम्य-प्राण-प्रकृति शरीर में प्राज्ञ लेकर आती है। मन ही प्रज्ञान आत्मा है। इस प्रकार सूर्य के मन-प्राण-वाक् से हमारा मन-प्राण-वाक् (आत्मा) बनता है। अत: हमारा आत्मा भी वैश्वानर, तैजस्-प्राज्ञ रूप में सूर्य का ही प्रवर्ग्य (अंश) है। जीव का निर्माण अन्न और वैश्वानर के माध्यम से, पंचाग्नि तन्त्र से हो रहा है। जीव के साथ ईश्वर रूप सूर्य से आत्मा में आ रहा है। ईश्वर प्रजापति और जीव प्रजापति दोनों की युक्ति ही आत्मा का स्वरूप है।

अग्नि और सोम एक-दूसरे पर आश्रित हैं अपने अस्तित्त्व के लिए। दूसरा तथ्य यह भी है कि अग्नि ही सोम बन जाता है, सोम ही अग्नि बन जाता है। मूल में दोनों एक ही हैं। दोनों मिलकर सृष्टि का निर्माण करते हैं। अग्नि बाहर की ओर-ऊपर फैलती है। सोम अग्नि में आहुत होता है, निर्माण की सामग्री बन जाता है। अग्नि-सोम की स्पर्धा, गति-आगति रूप, एक स्थिर बिन्दु पर आकर मिलते हैं। वही स्थितिरूप निर्माण है। सोम आहुत होकर आप:-वायु-सोम तीन रूपों में बदल जाता है। अत: सृष्टि तीन प्रकार की होती है। सोम अग्नि के आदित्य भाग में आहुत हो जाता है। वायु-यम में मिलता है तथा आप: अलग हो जाता है। अग्नि को बुझा देता है। आप: का स्नेहन समाप्त होकर जल ही शेष रह जाता है। जो कुछ निर्माण होता है, उस का अर्थ भाग एक आकृति ले लेता है। इस आकृति का वितान (साम) नाद-स्वर के अनुसार सात भागों वाला होता है। प्रकृति का प्रत्येक पिण्ड सात स्तर का होता है। जैसे-सप्तलोक-पृथ्वी के भीतर सात लोक, शरीर के सप्तधातु-सात चक्र-सप्तरंग आदि। अर्थ पिण्ड ऋक्-यजुर्-साम रूप वेदत्रयी से बनता है। वैसे त्रिलोकी की अवधारणा भी तीन के सिद्धान्त पर ही आधारित है और वात-पित्त-कफ की भी।

द्युलोक के बृह्मणस्पति सोम की सावित्राग्नि में आहुति होती है। सोम राजा (स्नेहन युक्त) पैदा होते हैं। कितना महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक भाव है यह। सोम आहुत होकर मिट जाता है, शेष अग्नि रहता है। इसको ही अर्थ सृष्टि कहते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस अग्नि के भीतर जो सोम प्रवाहित होता है, वही अर्थ पिण्ड का निर्माण करता है और वही उस पिण्ड का सोम-शुक्र भी बन जाता है। वही नई सृष्टि का बीज बनता है।

द्युलोक का सोम सूर्याग्नि में आहुत होता है। रश्मि रूप लेता है। जिसमें अग्नि है, सोम है, जल है, प्रकाश है, ताप है। यहाँ जल को मरीचि कहते हैं। सूर्य के प्रकाश को इन्द्र कहते हैं। इन्द्र का वाहन ऐरावत हाथी है, जिसके सात 'सूंडें' होती है। उस का प्रसार सात लोकों तक होता है। साथ ही सातों लोकों से रश्मियां जल लेकर लौटती भी हैं। सोम के सूर्य में आहुत होने के बाद जल मृत्यु लोक की ओर गमन करता है। मेघ रूप

लेता है। मेघ सोम संग्राहक होता है। यहाँ वायु के कारण गर्जन-गति द्वारा अग्नि उत्पन्न कर के विद्युत् (तड़ित) रूप में मेघ का प्रवेश कराया जाता है। यहाँ योषा-वृषा का युग्म वर्षा का कारक बन जाता है।

वर्षा सोम है, पृथ्वी पर अग्नि प्रज्वलित होती जान पड़ती है। जल आहुत होता है। इस जल में सृष्टि के शुक्र रहते हैं। परमेष्ठी लोक के पितर प्राण महद् लोक में जीव के साथ जुड़ते हैं। सूर्य में बीज रूप प्रतिष्ठित होते जाते हैं। महद् लोक जिस प्रकार अव्यय पुरुष की योषा है, उसी प्रकार योनि अक्षर पुरुष की योषा है। सूर्य अक्षर सृष्टि का स्वामी बनता हुआ ब्रह्माण्ड का अक्षर-रूप हृदय भी है। जो सोम सूर्य का पोषण करता है, वही सूर्य का शुक्र भी बन जाता है। पर्जन्य (मेघ) का निर्माण करता है। इसी क्रम में मेघ भी आगे निर्माण के लिए सोम-शुक्र (जल) उपलब्ध कराता है। हर स्तर पर देख सकते हैं कि सोम ही अग्नि मे आहुत होकर अग्नि रूप सृष्टि का निर्माण करता है। सोम ही पुन: अग्नि का शुक्र (सोम) बन जाता है।

वर्षा का जल कहने को तो ऊपर मिट्टी पर आहुत होता है, किन्तु वास्तव में पृथ्वी की भी मूल योनि महद् लोक (अभ्यान्तर) ही है। बीज को भी हम खड्डा खोदकर भीतर प्रतिष्ठित करते हैं। महद् लोक के आगे स्थूल सृष्टि आगे बढ़ती है। जीव पंचाग्नियों से गुजरता हुआ स्थूल देह में प्रवेश करता है। इसी बीच प्रत्येक लोक में जीव के साथ कुछ न कुछ जुड़ता जाता है, जो प्रतिसृष्टि में उसी लोक में छूटता जाएगा। कहीं पितरों के अंश, कहीं प्रकृति के त्रिगुण तो कही कर्म-वीर्य (वर्ण)।

हम बीज की, किसी भी प्रकार के बीज की यात्रा का अध्ययन कर लें, निष्कर्ष एक है। उस की उत्पत्ति अपने पिता से ही होती है। हर बीज के पिता के पीछे भी उस का पिता ही मिलेगा। अन्तिम पिता सूर्य पर प्रतिष्ठित नजर आएगा। सूर्य ही जगत् का पिता है। वही सब का आत्मा बनकर बैठा है। वही सृष्टि का प्रथम षोडशी पुरुष है। **'सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च।'**

इसका एक अन्य अर्थ यह भी निकलता है कि 'पिता वै जायते पुत्रो।' पिता ही माता के गर्भ से पुत्र बनकर पैदा होता है। पुत्र तत्त्व रूप में पिता ही है। सात पीढ़ी के 28 सह पिण्डों में सर्वाधिक-पन्द्रह सह पिण्ड पिता के होते हैं। समझ में ये आ जाना चाहिए कि न कोई पिता है, न कोई पुत्र है। एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरों से गुजरता हुआ सृष्टि क्रम में आगे बढ़ता जाता है। माता-पिता मार्ग उपलब्ध कराते हैं। पैदा नहीं करते। ब्रह्म ही अपनी माया शक्ति के योग से सर्वत्र व्याप्त हैं। एक ही आत्मा जड़-चेतन में है। भीतर सब एक ही के अंश हैं। यही **वसुधैव कुटुम्बकम्** की अवधारणा है।

पृथ्वी पर वर्षा से गर्भधारण होता है। यही जल शनै: शनै: सातों लोकों तक पहुँचता है। मह:लोक में प्राणियों-वनस्पति-औषधियों के तन की नींव पड़ती है। बिना जल के सृष्टि नहीं होती। पृथ्वी का जनक जल ही है। पृथ्वी प्रसव करती है। जब ये सब पकने की स्थिति में आते हैं-इनमें जीव पड़ता है। हमारा किसान 'जीव पड़ने' से पहले फसल को नहीं काटेगा। शुरू के तीन माह में स्त्री का भी गर्भपात होता है तो उसे अपूर्ण मानकर जलाया नहीं जाता। जमीन में गाड दिया जाता है।

जल वर्षा से अन्न पैदा हुआ। छोटे-छोटे प्राणी भी पैदा होते हैं। अन्न अनेक प्रकार का होता है। अनेक पशु घास ही खाते हैं। कुछ माँसाहारी होते हैं। पक्षी (तिर्यक्) तथा मनुष्य अनाज खाते हैं। कुछ मनुष्य भी

मांसाहारी होते हैं। शास्त्र कहते हैं–**'जीवो जीवस्य भोजनम्।'** मुंह में अन्न का अरणी-मन्थन होता है। रसना (जीभ) जल तत्त्व के साथ अन्न आगे गति करता है। जठराग्नि से पूर्व अन्न में अन्तरूस्रावी ग्रन्थियों के रस मिलते हैं, जो व्यक्ति के तीनों गुणों (स्वभाव) पर आधारित होते हैं। शरीर में यही मह:लोक है। आगे अग्नि में सोम रूप अन्न आहुत होता है। अन्न से रस बनता है। शेष अन्न मल रूप में शरीर छोड़ देता है। आगे शरीर के अन्य धातु-रक्त, मांस, वसा, अस्थि, मज्जा और शुक्र बनते हैं। शरीर निर्माण में पृथ्वी का अंश जो अन्न का मुख्य भाग है, उपयोगी होता है। जल से (गर्भस्थ) शरीर (पृथ्वी) का निर्माण होता है। अत: शरीर की एक संज्ञा पृथ्वी (मिट्टी) है। ' काया थारी गार (मिट्टी) सूं काची।'(कबीर)

अन्न भी शरीर के सातों लोकों का निर्माण करता हुआ अन्त में अगली पीढ़ी के बीज शुक्र में एकत्रित करता रहता है। अन्न रूप सोम ही अग्नि रूप शरीर का निर्माण करता हुआ पुन: सोम रूप शुक्र बन जाता है। जीव इसी शुक्र में शुक्राणु के रूप में संग्रहीत भी होता है और सुरक्षित भी रहता है (फ्रिज जैसे)। शुक्र का स्वरूप ही बीज के अनेक तथ्य स्पष्ट करता है। शुक्र सोम है, किन्तु शुक्राणुओं का शरीर अग्नि रूप है। अत: शुक्र एक शुद्ध द्रव्य रूप है, जो जीव का संरक्षक भी है और आवश्यकता पडने पर जीव को स्त्री के मह:लोक तक पहुंचाने का माध्यम भी बनेगा। प्रत्येक स्तर पर सोम रूप जीव महत् लोक में ही बीज रूप में आहुत होता है। बीज ही ब्रह्म है। **'ममयोनिर्महद् ब्रह्म...।'** (गीता)

यहाँ महद्ब्रह्म में शुक्राणु आहुत होते हैं। इनमें भी पूर्वजों के अंश, पिता के वर्ण के साथ-साथ वीर्य (ब्रह्म-क्षत्र-विट्) भी जुड़ता है। मातरिश्वा वायु इसे स्त्री भ्रूण (डिम्ब) तक ले जाता है। शुक्र वहाँ स्त्रीभ्रूण में आहुत हो जाता है। यही मह:लोक है। शुक्राणु को पुंभ्रूण भी कहते हैं। डिम्ब में बुद्बुद् रूप में निर्माण आगे बढ़ता है। जैसा कि जल में होता है। जल भी सात स्तरों तक जाकर मिट्टी (शरीर) बनता हुआ स्वर्ण बन जाता है। उसी प्रकार गर्भ में भी यह बुद्बुद् सात स्तर पर (मिट्टी) शरीर बन जाता है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शुक्र का शुक्राणु क्या वह 'गॉड पार्टिकल' नहीं है, जिस को आज का वैज्ञानिक ढूँढ़ रहा है? ब्रह्म उसी अणु का नाम है। प्रत्येक शुक्र में वही प्रतिष्ठित रहता है। पेड़ के बीज का शुक्र भी वही होगा। जलचर, थलचर, नभचर सभी के केन्द्र-मूल में यही ब्रह्म (बीज) है। इसी में षोडशी पुरुष आत्मा रहता है। पिछले जन्मों के कर्मफल (संचित) रहते हैं। यही बीज है, पुंभ्रूण है। जगत् का पालक-पोषक-निर्माता तत्त्व विष्णु है। इन्द्राग्नि से युक्त होकर यज्ञ करेगा। मह:लोक में। यही मर्त्यअक्षर आगे मर्त्यक्षर सृष्टि का उपादन कारण बनेगा। पार्थिव शरीर का निर्माण करेगा। जो भी देह निर्मित होगा, वह अग्नि रूप होगा, जिसका शुक्र सोम रूप ही उपलब्ध होगा।

सम्पूर्ण सृष्टि में अग्नि के आवरण में सोम कार्य करता है। सोम के आवरण में अग्नि कार्य करता है। सोम जैसे अग्नि में कूदकर उसके भीतर ही भीतर अग्नि की आकृति को निर्मित करता है, घड़ता है और अन्त में पुन: अपने सोम स्वरूप में आकर अगले निर्माण के लिए तैयार हो जाता है। इस शुक्र में (अन्न के द्वारा) अन्तरिक्ष एवं चन्द्रमा का रस भी सम्मिलित रहता है। इनसे क्रमश: ओज और मन बनता है। मन की प्रधानता में ही मानव का महत्त्व लक्षित होता है। शुक्राभाव में इन दोनों तत्त्वों का लोप हो जाता है। मन की चैतन्यता

के अभाव में व्यक्ति के मनीषी होने का मार्ग बन्द हो जाता है। यद्यपि कई अन्य प्राणी भी मन से विशिष्ट हो सकते हैं। बुद्धि में भी अन्य प्राणी श्रेष्ठ हो सकते हैं, किन्तु मानवता का एकमात्र आधार '**यो बुद्धेः परतस्तु सः**।' (गीता) अर्थात् जो बुद्धि से भी पर है वह तो आत्म तत्त्व है। आत्मा को बुद्धि से भी आगे कहा गया है। वह आत्म तत्त्व है, जिसके बिना हम भी एक प्राणी ही हैं।

इस दृष्टि से शुक्र मात्र शरीर पैदा करता है। चन्द्रमा से मन तथा सूर्य से बुद्धि ग्रहण करता है। शुक्र की अल्पता से व्यक्ति में मन एवं बुद्धि भी अल्प मात्रा में ही उपलब्ध रहते हैं। पशुभाव प्रधान होता है। यह शुद्ध भौतिक विवर्त कहा गया है। आत्मा इसमें प्रविष्ट होकर मानव स्वरूप का निर्माण करता है।

शुक्र का प्रवेश जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित करके किया गया था, उसी प्रकार शुक्राणु के आहुत होने के लिए भी आलोडन-विलोडन होता है। मातरिश्वा वायु के घर्षण से उत्पन्न अग्नि में आहुत होकर बुद्बुद् रूप ले लेता है। कलल बनकर शनैः-शनैः क्षीर सागर में विश्राम करने लग जाता है। माता के कमलनाल से जुड़ा अग्नि भीतर के सोम के योग से बढ़ता रहता है। अंधकार के कारण सारे असुर प्राण भी इस ब्रह्म पर आक्रान्त रहते हैं। यहीं पर मधु-कैटभ, महिष, रक्तबीज रहते हैं। जीव के प्रवेश के साथ ही देव सेना प्रवेश करती है। शिशु के जन्म पर्यन्त यह देवासुर संग्राम जारी रहता है। इस काल में मां के द्वारा दिए जाने वाले अनेक संस् कार बालक की बौद्धिक-मानसिक क्षमता का विकास करते हैं। मानवीय संस्कार उसे शक्तिमान बनाता है। शरीर सौ साल के जीवन में पुनः वैसा ही शुक्र-अणु पैदाकर जाता है, जो उस के जन्म का कारण रहा था।

शुक्राणु तथा डिम्ब दोनों के शरीर में पंचकोश रहते हैं। पहले दोनों के अन्नमय कोश टकराएंगे। अग्नि प्रकट होगा। सोम यहाँ आहुत होगा। प्राणमय कोश के माध्यम से मनोमय कोश मिलेंगे। दोनों ऋत रूप हैं, प्रतिबिम्ब की तरह, एकाकार होते हैं। वही महःलोक है। दोनों के बिम्ब त्रिगुणात्मक हैं। पुरुष वीर्य में सात पितरों के अंश हैं। सम्पूर्ण वीर्य पार्थिव होने से पंच महाभूत युक्त भी है।

ब्रह्म और माया बीज के एकाकार होने से ब्रह्म के मन में जिज्ञासा हुई-'**एकोहं बहुस्याम्।**' सृष्टि पूर्व की सारी क्रियाएं शुरू हुईं। अग्नि के तीन भाव-अग्नि-वायु-आदित्य तथा सोम के तीन भाव-आपः-वायु-सोम-यहाँ कार्य कर रहे हैं। बुद्बुद् के चारों ओर का जल ही परमेष्ठी है। बीज भी पंचकोश होता है। उपर्युक्त क्रियाएं बीज के स्वरूप की हैं। शुक्राणु के शरीर से बीज निकला है, डिम्ब के शरीर से बीज निकला है। दोनों पंच कोशी हैं। मन चूंकि हृदय ही है, अतः तीनों अक्षर प्राण यही हैं, आनन्द-विज्ञान भी बीज में है। बीज में आकृति है, प्रकृति है। सूर्य से जीव नीचे उतरा, महःलोक से आया, तब आपः बाहर रह गया। वायु के साथ सोम सूर्य के केन्द्र से जुड़ा। सोम काम आ गया। प्राण (सूक्ष्म मन-वाक् सहित), अक्षर प्राणरूप नीचे आता है। सूर्य का सम्बन्ध हमारे सहस्रार चक्र के साथ नित्य रहता है। वहीं से सूर्य प्रतिदिन हमारी आयु का एक दिन वापिस लेता है। जैसे पृथ्वी से जल खींचता है। आयु हमें सूर्य से ही प्राप्त होती है। इस के अतिरिक्त ज्योति (आत्मा) तथा गौ ये तत्त्व भी सूर्य से प्राप्त होते हैं। तीनों मिलकर मन-प्राण-वाक् रूप हमारा आत्मा बनता है। शरीर में यह आत्मा वैश्वानर-तैजस्-प्राज्ञ रूप में प्रतिष्ठित रहता है। ईश्वर रूप विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ इन्हीं तीनों से नित्य जुड़े रहते हैं।

चयन विज्ञान के अनुसार गर्भस्थ शिशु की नौ मास पर्यन्त अग्नि की चिति से उत्तरोत्तर स्वरूप संधान होता रहता है। सप्तचिति लक्षण यह अग्नि चयन नौ मास में समाप्त होता है। यही अग्नि प्राणात्मक गर्भसंचारी 'एवया मरुत्' के प्रत्याघात से स्थान छोड़कर भूमिष्ठ हो पड़ता है। पहली क्रिया इस की 'रुदन' होती है। चित्याग्नि रूप शिशु साक्षात् रुद्र है। इस रुद्राग्नि से इन्द्रिय प्राण प्रकम्पित होते हैं। तत् काल मुंह में गुड़-मधु आदि अन्न की इस अग्नि में आहुति दी जाती है। यह शरीर भूपिण्ड भाग है। चन्द्रमा का अंश मन है, सूर्यांश ही बुद्धि है। अव्यक्त का अंश आत्मा कहलाता है। इसी आत्मा को-प्राण रूप-मनु तत्त्व कहते हैं। इन चारों की समन्वित अवस्था ही 'मानव' है। आत्मसत्ता अथवा आत्मा का अभाव चेतन-जड़ वर्ग का विभाजक नहीं है। आत्मा जड़ में भी है, चेतन में भी है। इनका विभाजक है इन्द्रिय भाव। **'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियम् अचेतनम्'** (चरक 1/47)। जिन पदार्थों में इन्द्रियों का विकास है, वे चेतन हैं। जिनमें विकास नहीं है, वे जड़ हैं।

चर-अचर विश्व में चर चेतन है, अचर जड़। जड़ का अर्थ है-बाह्य भौतिक शरीर भाव, चेतन का अर्थ है—समनस्क इन्द्रिय भाव। इन्द्र प्राण ही इन्द्रियों की प्रतिष्ठा है। अन्न लेने बाहर जाता है। प्रज्ञान मन (चांद्रमन) का प्रज्ञात्मक प्राण ही इन्द्र है। बिना मन के इन्द्रियों का व्यापार असंभव है। अत: चेतन का अर्थ है—समनस्क जीव।

जिनमें केवल पृथ्वी का भूत भाग प्रधान होता है, पत्थर, लोहा, मिट्टी आदि, ये सब अमनस्क पार्थिव पदार्थ जड़ हैं। जिनमें पृथ्वी के साथ चन्द्रमा का भाग भी व्यक्त होता है-वे चेतन जीव होते हैं। कृमि- कीट-पक्षी-पशु ये चार इन के विवर्त हैं।

इनमें भी पार्थिव-चन्द्र भाग की मात्रा से श्रेणियां बन जाती हैं। इनमें विशेष प्रकार के सर्पों, भ्रमरादि कीटों, पिक-शुकादि, गज-तुरंगादि में बुद्धिशीलता भी पाई जाती है। अर्थात् जिनमें चन्द्रमा के साथ-साथ सूर्य के प्राण भी जुड़ जाते हैं, वे बुद्धिजीवी होते हैं। चान्द्र प्राणी सृष्टि आठ प्रकार की तथा सूर्य सर्ग ३३ भागों में विभक्त हैं। तीनों सर्ग सूर्य पर्यन्त हैं। शेष रहा अव्यक्त भाव। जिस प्राणी में आत्मभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति हो, वही श्रेष्ठतम 'मानव' सर्ग होता है।

जीव का अक्षर सृष्टि से सम्बन्ध है। '**जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्।**' (गीता) आत्मा का सम्बन्ध अव्यय पुरुष से है। वह विभूति सम्बन्ध से भूतों का आधार है। वह केवल मानव में ही स्व स्वरूप से पूर्णतया अभिव्यक्त होता है। अत: मानव 'पुरुष' कहलाया। अन्य प्राणी प्राकृत जीव हैं, वहीं मानव आत्मनिष्ठ पुरुष है। यही प्रजापति का स्वरूप है। अन्य प्राणी प्रकृति तन्त्र से संचालित हैं, मानव पुरुषार्थ से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। जब तक शरीर-मन-बुद्धि तीनों तन्त्र आत्मभाव से समन्वित नहीं हो जाते, तब तक मानव नहीं कहे जा सकते।

गर्भस्थ शिशु में भी शरीर-मन-बुद्धि ही देह-बीज (रेतस्) से प्राप्त होते हैं। आत्मा कुछ काल बाद प्रवेश करता है। आत्मा भी षोडशकल कहलाता है। केन्द्र में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र तीनों हृदय रूप प्रतिष्ठित रहते हैं। शरीर में भी हृदय है-भ्रूण में भी हृदय है। हृदय प्राण ही आत्मा को आकर्षित करते हैं। आत्मा स्वयं तय करता है कि किस शरीर में जाना है और क्यों? जीवन का लक्ष्य तय करके आता है, किन्तु प्रसव वेदना से सब कुछ विस्मृत हो जाता है। पुण्य योग से या फिर गुरु कृपा से लक्ष्य पुन: प्रकट होता है।

प्राणों के माध्यम से सूर्य स्थित हृदय द्वारा तीनों प्राणों से जीवों का हृदय उत्पन्न करता है। इस अक्षर सृष्टि से क्षर सृष्टि बनती है। अक्षर-क्षर का अमृत भाग ईश्वर संस्था से सम्बद्ध हो जाता है। मर्त्य भाग जीव की आत्मा षोडशकल-में समाहित रहता है। पर्जन्य में भी सोम ही शुक्र रूप रहता है। इन्द्राग्नि के माध्यम से विद्युत् रूप अग्नि में सोम आहुत होकर वर्षा करता है। वर्षण में भी आप:-वायु-सोम रहता है। प्राण के सहारे सोम आगे बढ़ता है। पृथ्वी पर सोम की उत्पत्ति से अन्न ही शरीराग्नि में आहुत होता है।

ध्यान परम्परा-तन्त्र-में सहस्रार चक्र पर शिव-पार्वती की स्थिति कही गई है। शिव शान्त-शीतल अवस्था में विराजमान हैं। शिव के सिर से गंगा बहती है। यही गांगेय सोम है जो सूर्य के माध्यम से यहाँ पहुंचता है। यही सोम हृदय के अग्नि प्राणों ये युक्त होता है। हृदय को पुष्ट करता है। क्षर रूप शरीराग्नि में अन्तरिक्ष का सोम स्वरूप प्रतिष्ठा बनाए रखता है। आत्मा में अमृत-मृत्यु का साथ निरन्तर बना रहता है। सहस्रार सूर्य सोम से तथा मूलाधार पार्थिव अग्नि से ओत-प्रोत रहते हैं। प्रकृति इनके कार्यों की दिशा तय करती है।

वैश्वानर में भी अग्नि-यम-आदित्य हैं और अन्न में भी आप:-वायु-सोम हैं। सम्पूर्ण सृष्टि में 3/4 पानी है, 1/4 वायु-सोम (विरल) है। वैश्वानर, तेजस्, प्राज्ञ रूप जीव अग्नि प्रधान है। वैश्वानर अन्न का भोक्ता बनकर द्रवण करता है-रस बनाता है। शरीर का घन-पार्थिव-भाग बनता है। तैजस् से आभामण्डल तथा प्राज्ञ से मन बनता है। इस प्रकार मन-प्राण-वाक् रूप आत्मा का स्वरूप बनता है।

चन्द्रमा हमारा पितर-लोक है। परमेष्ठी (चन्द्रमा) इस ब्रह्माण्ड का पितर-लोक है। मृत्यु उपरान्त (दक्षिणायन वाले) जीव चन्द्रलोक जाते हैं। वही पूर्वजों का स्थान भी है। सूर्य उत्तरायण में मरने वालों का स्वर्ग कहलाता है। किन्तु यह सूर्य का अध: अर्द्धांग ही होता है, जो मृत्यु लोक नियामक अंग है। जीव का पिता सूर्य ही है, अत: उस की पहुंच भी सूर्य तक ही है, उस के आगे केवल इन्द्र प्राण ही ले जा सकता है। केवल मुक्त जीवात्माएं ही सूर्य का भेदन करने में सफल होती हैं।

प्रत्येक स्तर पर देखा जाता है कि जब भी ब्रह्म के मन में 'बहुस्याम्' की इच्छा उठती है, भीतर उस की सोम-शक्ति जाग्रत् हो जाती है। ब्रह्म-शुक्र की आहुति के लिए अग्नि कुण्ड तैयार करती है। '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत।**' तत्काल ब्रह्म उस कुण्ड में प्रवेश कर जाता है। सूर्य (मह:लोक) से चलकर पांच पायदानों पर स्वरूप को स्थूलतर करते हुए अपने स्थूलतम रूप में मानव बनता है, प्राणी बनता है। आगे आत्मा के मूल स्वरूप को समझकर मुक्ति मार्ग पर चल पड़ता है। पुरुषार्थ का यही अन्तिम लक्ष्य होता है। अपने फल भोगने की अवधि पूर्ण कर के जीवात्मा पुन: स्थूल देह धारण करता है। पुन: इस के लिए पर्जन्य-वर्षण-अन्नादि स्थितियों से गुजरना पड़ता है। शरीर में पुन: आत्मा का प्रवेश शरीर को गतिमान् करता है।

प्रधान सम्पादक
राजस्थान पत्रिका समूह
केसरगढ़, जयपुर (राजस्थान)

हमारे धार्मिक अनुष्ठानों का मूल आधार : अनुराग

महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री

यह एक सुविदित तथ्य है कि भारत एक आस्तिकता प्रधान देश है। आध्यात्मिकता का एक सुदीर्घ इतिहास इस देश का रहा है। आराध्य में गहरी आस्था इस देश के प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय, पन्थ, अंचल में रहीर है, प्रत्येक वर्ग में रही है। गत दश बारह शताब्दियों से तो इस देश में भक्ति आन्दोलन की धारा बही है उसने सारे देश को को मन्दिरों में होने वाले भजनकीर्तन, पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा आदि में सराबोर कर दिया है। भक्ति का लक्षण सर्वविदित है। परमेश्वर के प्रति, अपने आराध्य के प्रति प्रेम की भावना भक्ति का एकमात्र आधार है। भक्ति सूत्र में इसका लक्षण ही इस प्रकार किया गया है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में अनुराग प्रगाढ़ प्रेम ही भक्ति है। यह प्रेम सदियों से भारतीयों के हृदय में गहरा पैठा हुआ है।

यह तो बात हुई आराध्य के प्रति प्रेम की किन्तु हमारे यहाँ वेदकाल से लेकर आज तक, अनेक अनेक सदियों से जीवन के जो मूल्य प्रतिपादित किए गए हैं, धर्माचरण का जो मार्ग विहित किया गया है, उसका मूल अभिगम है प्रकृति के प्रति, हमारे पर्यावरण के प्रति, हमारे जीवन में आने वाली प्रत्येक वस्तु के प्रति प्रेम, सहिष्णुता और आत्मीयता की भावना। यही जीवन को जीने योग्य बनाती है, 'सकारात्मक' बनाती है। आप इसे इस प्रकार देख सकते हैं कि हमारे गाँव-गाँव में, नगर-नगर में जिस प्रकार मन्दिरों में भगवान् की पूजा-आराधना होती है उसी प्रकार प्रत्येक शुभकार्य में गंगा जैसी नदियों की पूजा करी जाती है। प्रसव के बाद माता गंगा का पूजन करती है। इसे 'गंगा पूजा' कहा जाता है। यह है जल पूजा, जलवा पूजन। जल हमारे जीवन का प्रमुख आधार है। इसके प्रति प्रेम हमें इसकी पूजा करने के लिए प्रेरित करता है।

इस प्रकार पर्यावरण के प्रति प्रेम का प्रगटीकरण हम वटवृक्ष का, पीपल का, शमी वृक्ष (खेजड़ी) का तथा अन्य वृक्षों का पेजन करके करते हैं। ज्येष्ठ की पूर्णिमा के दिन वटसावित्री व्रत महिलाओं द्वारा किया जाता है जिसमें बड़ वृक्ष की पूजा, सूत्रबन्धन आदि का विधान है। तुलसी की पूजा तो घर-घर में होती है। बिना सिंचाई के अपने बल पर फलने वाले वृक्ष शमी का पूजन दशहरे (विजयदशमी) के दिन किया जाता है। यह हमारे पर्यावरण के अनुराग का प्रतीक है। पीपलपूनो, आंवला नवमी, आदि पर्व इसी के प्रमाण है।

इसी प्रकार पशुओं और पक्षियों को धर्माचरण के रूप में जलदान करना, अन्नदान करना, चारा देना शास्त्रों में विहित है। गाय को माता मानकर, पूज्य मानकर उसकी सेवा, उसे भोजन-जल आदि प्रदान करना धर्मकार्य माना गया है। श्राद्धकर्म के अङ्ग के रूप में कौए को अन्नदान करना अत्यावश्यक माना गया है। देवताओं ने अपने वाहन के रूप में किसी यंत्र को नहीं चुना अपितु पशुओं और पक्षियों को चुना। यह उनके

प्रति प्रेम का प्रतीक ही तो है। विष्णु का वाहन गरुड़ है, शिव का वाहन नन्दी बैल है, कार्तिकेय का वाहन मयूर है, दुर्गा का वाहन सिंह है। देवताओं का प्रकृति के साथ, पर्यावरण के साथ, जैव विविधता के साथ प्राणियों के साथ प्रेम का प्रतीक है, यह वाहन विधान।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है धर्म का यह सिद्धान्त जो कहता है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच धर्म के आधार हैं। किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो। वह आपका हित करता है तो भी ठीक है, अहित करे फिर भी हिंसा न करो। प्रेम रखो। क्षमा रखो। क्षमा का विचार सबके प्रति प्रेम का स्वरूप ही तो है। अपना हित हो या न हो, कोई अपना अहित कर दे, तो उसके प्रति क्रोध न करो। ऐसी स्थितियों में क्रोध आना स्वाभाविक है किन्तु हमारा धर्म यह विधान करता है कि उस स्थिति में भी क्रोध मत करो। 'अक्रोध' धर्म का एक आवश्यक अङ्ग बताया गया है। मनुस्मृति स्पष्ट करती है—

धृतिः क्षमा दयोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, संयम, बुद्धिमानी, ज्ञान, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्म के प्रमुख मूल्य हैं। इनमें क्षमा और अक्रोध हमें सिखाते हैं कि हमारे चारों और जो भी प्राणी है, वृक्ष है, पर्यावरण है उसके प्रति अनुराग रखोगे तो क्रोध नहीं आएगा। उनकी गलती को भी आप क्षमा कर देंगे।

ये सारे गुण सदियों से भारत की आत्मा को पवित्रता प्रदान करते आये हैं। किसी और देश में किसी और दिशा से इसके विपरीत कोई प्रेरणा, कोई आन्दोलन आ भी जाए तो उसका प्रभाव सर्वग्राही नहीं होता, कुछ वर्गों को, कुछ समय तक वैसी हिंसा या उग्रता चाहे प्रभावित कर लें, हमारा सार्वदिक गुण अहिंसा, प्रेम, अनुराग, क्षमा और अक्रोध ही है।

प्रधान सम्पादक,
'भारती' संस्कृत मासिक,
सी-8, पृथ्वीराज रोड,
सी-स्कीम, जयपुर-302001

0141-2376008
8764044061

तन्त्रागम में शिवतत्त्वविमर्श

प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

भारतीय संस्कृति के चिन्तनधारा ने आज सम्पूर्ण विश्व को आकृष्ट किया है तथा विज्ञान के अधुनातन अनुसन्धानों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि भारतीय ऋषियों-मुनियों द्वारा प्रवर्तित निदर्शित विचारसरणी की मानवीय अस्मिता और उसकी उत्कृष्टता कि सही पहचान है। 'यन्न भारते तन्न भारते' का समुद्घोष है कि— **'श्रुतिप्रमाण-आगममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयादभीतः।'**[1]

श्रुतिप्रमाण तथा आगमानुमोदित मङ्गलमय साधनों का अनुष्ठान सम्पादन करने से साधक लोग जरा (बुढ़ापा) मृत्यु के भय से सर्वदा रहित होकर सानन्द शयन करते है। भारतीय साधना के दो आधारभूत स्रोत माने गये हैं- निगम तथा आगम (तन्त्र)। निगम की परिभाषा स्वामी करपात्री जी ने निम्न प्रकार से किया है—**'सम्प्रदायाविच्छिन्ने सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं निगमत्वम्'**[2] अर्थात् जिस वाणी की परस्पर अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही हो और जिसके कर्ता का स्मरण न हो, वही निगम के नाम से सुप्रसिद्ध है। कुछ संशोधन के साथ यही परिभाषा आगम के ऊपर भी चरितार्थ होती है। आगम भी अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त होते हैं, परन्तु इसके कर्ता के विषय में विभिन्न मान्यताएँ हैं। आगम वह शास्त्र है, जिसके द्वारा सब कुछ ज्ञात हो जाता है। *उपासकाध्ययन* में आगमशब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि हेय तथा उपादेय रूप से धर्मार्थकामादि चतुर्वर्ग समाश्रय पूर्वक त्रिकालगत अर्थों का ज्ञान कराने वाली विद्या आगम है

हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्।
कालो भयागतानर्थान् गमयात्यागमः स्मृतः।।[3]

कुल्लुकभट्ट ने मनुस्मृति की टीका में दो प्रकार की श्रुतियों का समुल्लेख किया है। वैदिकी श्रुति तथा तान्त्रिकी श्रुति।[4] टीकाकार ने दोनों (आगम तथा निगम) को श्रुतिमूलक माना है। मनु महाराज ने श्रुति का अर्थ वेद किया है। वेद ही श्रुति है।[5] अत: आगम की मौलिकता वेद से ही सिद्ध हो जाती है। दोनों ही अनादि हैं और दोनों के ही कर्ता का स्मरण नहीं है। इस प्रकार आगम तथा निगम दोनों ही परमेश्वरकृत है। *ईश्वरसंहिता* में भी इसी बात का प्रतिपादन किया गया है। आगम का मूल वेद के सदृश ही है।

ईश्वर संहिता में तो यहाँ तक कहने का प्रयास किया गया है कि वेदरूपी वृक्ष का यह मूलरूप है। ऋग् आदि इसकी शाखाएँ ही हैं।[6] *पौष्करसंहिता* में भी इसे इतिहास, पुराण तथा वेद-वेदान्त से युक्त माना गया है। मूल शब्द से यह नहीं समझना चाहिए कि निगम की उत्पत्ति आगम से हुई है। बल्कि यहाँ मूल का अभिप्राय वेद का क्रियात्मक रूप अभिप्रेत है अर्थात् आगम के बिना निगम का लोकोपयोगी होना या व्यवहार में आना

असम्भव है। भर्तृहरि ने आगम का बीज वेदों में ही माना है। उनका कहना है कि पूर्वागमों के उच्छिन्न हो जाने पर तथा वेद में ही बीज रूप में सन्निविष्ट रहने के कारण उन्हीं के आधार पर आगमनान्तरों का निबन्धन किया जाता है। अतः आगमों के प्रवाह से ही अनादि सिद्ध हो जाती है। आगम का मौलिक अर्थ परम्परा प्राप्त ही है और परम्परा का स्रोत वेद या निगम की है। गुरु शिष्य परम्परा रूप से जो शिष्ट परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आती है, उसी को आगम कहते हैं।

वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभदेव ने **योऽसौ शिष्टानाम् अविच्छिन्नः उपदेशः।**[7] तथा **अनादिः अगृह्यमाणकारणाचारोपदेशागमः।**[8] कहकर इसी बात का प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं वाक्यपदीयकार ने यह दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित किया है कि आगम के अतिरिक्त केवल तर्क से धर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि ऋषियों का ज्ञान भी आगमपूर्वक ही है।[9]

देवसूरि ने *प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार* में आगम की परिभाषा देते हुए बताया है कि '**आप्तवचनाद् आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः**' अर्थात् किसी आप्त पुरुष द्वारा अर्थ विशेष का परिज्ञान कराने वाले ज्ञान का नाम आगम है। यहाँ आप्तपुरुष का अभिप्राय है स्वदृष्टज्ञान का उपदेश क्योंकि *सांख्यसप्तति* की *जयमंगला* व्याख्या में यह कहा गया है कि रागद्वेष से रहित अपने कर्म में लगे हुए अजातशत्रु तथा सज्जनों द्वारा पूजित व्यक्ति को ही आप्त कहते हैं।[10]

वाराहीतन्त्र में सात लक्षणों से युक्त क्रियाओं को आगम माना गया है।[11] धर्म एवं आध्यात्मिक ज्ञान का यह दावा होता है कि वह अनादि अथवा ईश्वर से सम्भूत है। भारतीय परम्परा में भगवान् शंकर को समस्त विद्याओं का मूल स्रोत माना जाता है। आगम को अपनी कालिक सत्यता प्रतिपादित करने के लिए भगवान् के मुख से निःसृत माना जाता है।[12]

आगम का अर्थ परमज्ञान भी होता है।[13] अपने स्वरूप का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उस ज्ञान को भी आगम कहते हैं। स्वरूप का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उस ज्ञान को भी आगम कहते है।[14] स्वरूप का अभिप्राय है पारमेशस्वरूप से अभेद विमर्शन। आगम शब्द अपनी वैचारिक यात्रा में विविध सोपानों से होता हुआ कभी वेद, कभी शास्त्र, कभी शब्द के प्रमाणभूत तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। जैसा कि विविध शास्त्रों में इस शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है। निगमागम शब्द की व्याख्यायें निरुक्त से लेकर काव्यग्रन्थों तक बिखरी पड़ी है।

इस विविध व्याख्यानों में निगम अनादि श्रुति-पारम्पर्यात्मक वेद तार्किक निगम तथा वाणिज्य की दृष्टि से संघात्मक रूप से चले आते निगम के अर्थ में प्रयुक्त है। दूसरी ओर आगम, आगमन एवम् आगत परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त है। आगम के बारे में कहा गया है कि—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।।

इसका अर्थ यह है कि भगवान् वासुदेव के सिद्धान्त किं वा अभिमत के वक्ता भगवान् शिव है तथा श्रोता भगवती पार्वती आगतं पद का "आ" गतं पद का "ग" और "मतं' पद का "म" इन तीन अक्षरों के संयोग से आगम शब्द बना है। इस दृष्टि से आगम के मुख्यत: तीन भेद हैं—1 . शैवागम 2. शाक्तागम 3. वैष्णवागम

शैवागम परम्परा में भगवान् सदाशिव की प्राधान्येन आराधना (उपासना) होती है। भगवान् शिव से सम्बद्ध होने के कारण ही ये आगम शैवागम कहलाते हैं। शैवागम मुख्यतः- भेदप्रतिपादक, भेदाभेदप्रतिपादिक तथा अभेदप्रतिपादक- तीनों रूपों में प्रविभक्त हैं, इन्हें क्रमशः शिव, रुद्र तथा भैरव के संज्ञा से विभूषित किया गया है। *गणेशसहस्रनाम* में—

शैवं पाशुपतं कालामुखं भैरवशासनम्।[16]

शिवागम भेद निर्दिष्ट हैं। माहेश्वर सम्प्रदाय में अनेक अवान्तर भेद हैं। धर्मदृष्ट्या इनके चार भेद हैं— पाशुपत, शैव, कालामुख तथा कापालिक, जिनके मूलग्रन्थ शैवागम के नाम से अभिहित है। दार्शनिक दृष्टि से चार भेद हैं—पाशुपतदर्शन (जिसका प्राबल्य गुजरात तथा राजपूताना में था) शैवदर्शन (तमिलदेश में) वीरशैव (कर्नाटक) तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन या त्रिक स्पन्द (कश्मीर)। नाथदर्शन के प्रमुख आचार्य साधक प्राधान्य रूप से शैव थे।

न्यायवैशेषिक साधना भी पहले शैवयोग की ही थी। ये सभी शास्त्र शिव से समुत्पन्न हैं तथा शैव महाभाव रूपी जीवन्मुक्ति का महाफल प्रदान करने वाले हैं।

शैव भावना की प्राचीनता प्राग्वैदिक अतीत में प्राप्त है। शैवमत अत्यन्त प्राचीन तो है ही इसका व्यापक प्रभाव भारत के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, पर्व, उत्सव, लोकगीत तथा लोकव्यवहारों में दिखलाई पड़ता है।

वह शिव शान्त अद्वैत तत्त्व है जिसमें प्रपञ्च का उपशम होता है। वह केवलरूप तथा सृष्टिसंहारकर्ता है। वह सभी प्राणियों में रहता है। अत: सभी मुख, शीर्ष एवं ग्रीवा आदि अंग उसी के है। वह सर्वेश्वर, सर्वव्यापी एवं सर्वगत है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव के द्विधा प्रयोग पाये जाते हैं।

1 . परमशिव — जो छत्तीस तत्त्वों का अधिष्ठान है।

2. शुद्ध अध्वा — इसमें प्रथम तत्त्व जो शक्ति से पृथक् भासित होता है।

अभिनवगुप्त ने इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों का प्रसार करना ही परमतत्त्व है करके प्रतिपादन किया है। वह परमतत्त्व प्रकाश स्वरूप है। प्रकाश का स्वभाव विमर्श होता है।

परमशिव परमेश्वर का स्वरूप अनुत्तर है। वह स्वेच्छा से समस्त जगत् की सृष्टि की इच्छा से जो प्रथम स्पन्द लेता है उसी को विद्वानों ने शिवतत्त्व कहा है। तात्पर्यतः विश्व के उन्मीलन की इच्छा परमशिव की वह अवस्था है जिसे शिव नाम दिया है। अतः परमशक्ति ही स्पन्दरूप लेकर शिवतत्त्व बनता है। शिवतत्त्व का उल्लेख *काश्मीर शैवदर्शनबृहत्कोश* में भी किया गया है।

व्यापकस्तु शिवः सूक्ष्मः सबाह्याभ्यन्तरं स्थितः।
सर्वातिशयनिर्मुक्तः सर्वकारणवर्जितः।।
सृष्टिसंहारनिर्मुक्तः प्रपञ्चातीतगोचरः।
निर्मलो विमलः शान्तस्त्वध ऊर्ध्वं व्यवस्थितः।।
आकाशस्य यथा नोर्ध्वं न मध्यं नाप्यधः क्वचित्
एवं सर्वगतो देवः शिवः परमकारणम्।
व्याप्य देवि जगत्सर्वं व्योमसु व्योमवस्थितः।।[17]

वह शिवतत्त्व सम्पूर्ण जगत् के कण-कण में व्यापकरूप में रहता है। वह शिवतत्त्व सम्पूर्ण कारणों से रहित है। विश्व का सृष्टि, संहार एवं पालनकर्ता वही शिवतत्त्व है। आकाश एवं पातालों में व्याप्त होकर शान्त, विमल, निर्मल स्वरूपों से सम्पन्न शिव ही विराजमान हैं।

शिवतत्त्व को जानना कठिन नहीं है अपितु विमला मति से चिन्तन करने पर सर्वत्र व्यापक उसका साक्षात्कार हो सकता है। विस्तार से वर्णन और भी है

एवं वै शिवतत्त्वं तु कथितं तव सुन्दरि।
शोधयित्वा ततश्चोर्ध्वं शक्तिश्चैव परा स्मृता।।
समना नाम सा ज्ञेया मनश्चोर्ध्वं न जायते।
परिपाट्य स्थितानां तु पृथिव्यादिशिवावधौ।।
सर्वेषां कारणानां च कर्तृभूता व्यवस्थिता।
विभर्त्यण्डान्यनेकानि शिवेन समधिष्ठिता।।
तत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम्।
सृष्टिस्थितिसमाहारं तिरोभावमनुग्रहम्।।
हेतुकर्ता महेशानः सर्वकारणकारणम्।
समना नाम या शक्तिः सा तस्य करणं स्मृतम्।
तयाधितिष्ठेद्देवेशो ह्यधः कारणपञ्चकम्।।[18]

सम्पूर्ण जगत् के परमकारण के रूप में परमशिव ही कारण है। सृष्टि के बारे में पूछे जाने पर ब्रह्मादि छः कारणों को प्रेरित करते हुए कहा गया है—

वह शिवतत्त्व ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। ब्रह्माण्ड के ऊपर, नीचे अर्थात् दसों दिशाओं में अपनी शक्ति के माध्यम से कर्ता के रूप में सृष्टि, स्थिति और संहार करके अन्त में ब्रह्माण्ड को अपने में ही लीन कर लेते हैं। उनको सभी का कारण रूप माना जाता है। शिव अपना एक सहायक के रूप में समना नामक शक्ति को स्वीकार करते हैं। समना ही शिव के करण (सहायक) रूप में विद्यमान है। इनके माध्यम से ही सम्पूर्ण

कार्यों का सम्पादन परमशिव करते हैं। क्योंकि उसी समना में आरुढ होकर शिव विश्व का पालन करते हैं। पञ्चकृत्य के बारे में वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्।।[19]

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाले, सम्पूर्ण प्राणियों पर समान रूप से अनुग्रह करने वाले, सम्पूर्ण कष्टों को दूर करने वाले परब्रह्म शिव को वन्दन करता हूँ। इससे भी स्पष्ट होता है कि शिव ही सर्वत्र व्याप्त हैं। इस बात को पुष्ट करने के लिए *प्रत्यभिज्ञाहृदय* में कहा गया है—

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने।।[20]

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह एवं अनुग्रह करने वाले, चित्त (चैतन्य स्वरूप युक्त), आनन्दस्वरूप युक्त, परमार्थ कार्य में संलग्न परब्रह्म शिवतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ। उपर्युक्त वाक्यों से भी शिवतत्त्व ही सभी के कारण हैं, ऐसा प्रतीत होता है। शिव तत्त्व को पुष्टि *शिव दृष्टि* ने भी किया है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरनिर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरदृक्क्रियः शिवः।।[21]

वह शिव सर्वदा प्रस्फुरित अवस्था में सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में निरन्तर विद्यमान कहते हुए पालन करता है। स्वयं सूक्ष्म में निरन्तर विद्यमान कहते हुए पालन करता है। स्वयं सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहते हुए प्राणियों के माध्यम से जगत् में व्यक्त रूप से व्यवहार करते हैं। भगवान् शिव ही माया के सहयोग से जगत् में ज्ञेय के रूप में प्रस्फुरित होते हैं। इसका समुल्लेख *पूर्णता प्रत्यभिज्ञा* में किया है कि—

वक्तव्यं किमु तत्र यत्र भगवन् वेत्तैव वेद्यो भवन्,
शक्तिं स्वामहमात्मिकां भगवतीं पश्यन् स्वयं मुह्यति।
पुंस्त्वस्त्रीत्वविकल्पनां सुघटयन् भोक्तेव भोग्योपि सन्–
नच्छन्नोपि विभाति विश्वविभव स्वच्छन्दतया स्वेच्छया।।[22]

उस शिवतत्त्व के बारे में क्या कहना, जहाँ पर भगवान् ही ज्ञाता (जानने वाला) हैं। वही शिव ज्ञेय (जानने योग्य) वस्तु बनता हुआ अपनी अहं स्वरूप भगवती शक्ति को देखता हुआ स्वयं ही मोहित होता है। लिंगभेद की कल्पना करता हुआ भोक्ता ही भोग्य बन जाता है तथा अनवच्छिन्न प्रकाशमान अपनी स्वच्छन्द इच्छा से विश्व वैभव सम्पन्न होकर भासित हो रहा है। अर्थात् वही शिव ज्ञाता एवं ज्ञेय के रूप में प्रकाशित होते हैं। वह शिव तीन शक्तियों से परिवेष्ठित होकर रखते है। जिसका उल्लेख *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा* में कहा है—

त्रिशक्तिरेकशक्तिर्वा देवो वा केवलः स्थितः।
शक्तिरेवार्थ देवी सा, सा च शास्त्रे निरूप्यते।।[23]

तीनों शक्तियों (इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया) से युक्त अथवा एक शक्ति (जिस का नाम परा है) से युक्त शिवतत्त्व ही है। अथवा अकेला शिव तत्त्व ही विश्वरूप में स्थित हैं। अर्थात् वास्तविक रूप में कहा जाये तो शक्तिरूपा एक देवी ही विंतत विश्वरूप से स्थित है। इसका समुल्लेख विभिन्न शाखों में भी किया है। इस जगत् को शिवात्मक की उपाधि भी दी गई है—

शिवात्मकस्य भावस्य परामर्शोऽहमात्मकः।
सम्यग्ज्ञानमिति ख्यातं परामृतरसात्मकम्।।[24]

दुःखात्मक जगत् में अवस्थित सम्पूर्ण पदार्थ शिवस्वरूप ही हैं। उन सब पदार्थों का 'अहम्' रूप द्वारा भासित होना ही सम्यग् ज्ञान कहलाता है। इसी शिवतत्त्व को परम अमृतरस माना गया है। शिवतत्त्व ही रसरूप में विराजमान है। इस जगत के बन्धनों से छुटकारा पाना हो तो शिवतत्त्व का ज्ञान आवश्यक है। कर्म, भक्ति एवं ज्ञान के मार्ग साधक को ध्यान के द्वार तक ले जायेंगे। तथा ध्यान की दस्तक से ही शिवत्व का दरवाजा खुलेगा। तत्पश्चात् व्यक्ति उस परम तत्त्व को प्राप्त होगा। जो शिव है, कल्याणकारी है। शिवतत्त्व ही आत्मसाक्षात्कार कराती है। शिवोऽहं का ज्ञान ही जीवन में सर्वाधिक उपयोगी मानी जाती है।

मैं शिव हूँ। मैं सत्य हूँ। मैं ही सुन्दर हूँ। मेरे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, छोटा-बड़ा इत्यादि कोई नहीं है। एक बार यह ज्ञान हो जाये, तत्पश्चात् संसार एक चित्रपट की तरह सहज, सुन्दर तथा सामान्य हो जायेगा।

यदि हम शिवतत्त्व को नहीं जान पायेंगे तो संसार से मुक्त भी नहीं हो पायेंगे। शिव अर्थात् कल्याणकारी ज्ञान। यह शिव अन्तःकरण में अवस्थित है, परन्तु शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, वासनाओं इत्यादि ने हमारे परम कल्याणकारी शिवतत्त्व को आच्छादित (ढंककर) करके रखा है। हमारे अज्ञान के कारण शिवस्वरूप आत्मा को मनुष्य ने उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना धन को, तन को अथवा बुद्धि को दिया है। जिसके कारण ही हम सब बन्धनों में बँधे हैं। अब प्रश्न उठता है कि इसको (शिवतत्त्व) को अनुभव कैसे करें? शिवतत्त्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता। कोई वस्तु, व्यक्ति, स्थिति, परिस्थिति तब प्राप्ति की जाती है। यदि वह पहले से प्राप्त न हो। शिव तो हम स्वयं हैं। जैसे पीतल के बर्तन की वास्तविक स्थिति तो शुद्ध, चमकदार और तेजस है, किन्तु माहौल के प्रदूषण के कारण उसका वास्तविक स्वरूप छिप गया है। अब आप ब्रश रूपी केमिकल उस पीतल के बर्तन पर लगाते है। वह ब्रश मात्र पीतल के ऊपर जमी गंदगी को ही निकालता है। तत्पश्चात् बर्तन की अंदरूनी सुन्दरता स्वतः ही प्रकट हो जाती है। इसी तरह हमें अपने अन्तःकरण के मैल को कुछ साधनाओं के द्वारा दूर करना होगा। तभी शिवत्व उभरेगा। ये साधनायें कर्म, भक्ति, ज्ञान तथा ध्यान की है। वस्तुतः कहा जाये कि संसार ने किसी को बंधनों में नहीं बाँधा बल्कि हम खुद ही संसार के बंधनों में जकड़े हुए है। हमें स्वयं ही बंधन मुक्त होना होगा। यही शिवत्व का ज्ञान है। इसी को तन्त्रागम में परमतत्त्व के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

सन्दर्भ

1. *महाभारत शान्तिपर्व, मोक्षधर्मपर्व*, 21 9/46।
2. *सन्मार्ग, आगमविशेषाङ्क।*
3. *उपासकाध्ययन*, श्लोक-1 00।
4. *मनुस्मृति* टीका 2/1 2
5. "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो" तत्रैव।
6. *ईश्वरसंहिता* 1 /24।
7. *वाक्यपदीय*, वृषभदेव 1 /27/
8. वाक्यपदीय, वृषभदेव 1 /27/
9. तत्रैव 1 /1 41
10. *सांख्यकारिका जयमङ्गलटीका कारिका-* 5पर।
11. *वाचस्पत्यम्*, पृ0 61 8।
12. *सोल्लासतन्त्र* 1 /1 5।
13. *त्रिपुरार्णवतन्त्र*, भूमिका, पृ0 4।
14. तत्रैव।
15. *शब्दस्तोममहानिधि, दी आगम इन्साइक्लोपीडिया*, वाल्यू0 1 , पृ0 1 29।
16. *गणेशहस्रनाम*, 1 29 बी।
17. *स्वच्छन्दतन्त्र* 1 1 /33-36।
18. *स्वच्छन्दतन्त्र* 1 0/1 255-1 260।
19. *स्वच्छन्दतन्त्र* 1 /3।
20. *प्रत्यभिज्ञाहृदय*, पृ0 ॥
21. *शिवदृष्टि*-1 /2।
22. *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा*, प्रथमविमर्श-1 9।
23. *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा*, प्रथमविमर्श-56।
24. *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा*, प्रथमविशर्म 1 43।

धर्मागम-विभाग,
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

ब्रह्माण्डपुराणे शिवागमदृष्टिः

डॉ. चन्द्रकान्ता राय

संसारार्णवपरिप्लुतानां नानाविकारसन्तप्तानां आत्मेन्द्रियमनोयुक्तानां भोक्तृभावोपपन्नानां मानवानामुद्धाराय परंकारुणिकेन, परमैश्वर्ययुतेन भगवता परमात्मना वेदनिधिरुद्भावितः, परं नैतद्वाङ्मयं सर्वेषां ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रवर्गाणां कृते सुविज्ञेयमवारणीयं वाऽभूत्। अतस्तु अल्पीयसा एव। प्रयासेन ऐहिकसुखाभिलाषिणाम्, भवप्रपञ्चार्णवमुत्तितीर्षूणां परतत्त्वस्थ्य सान्निध्यमुपगन्तुकामानाञ्च सर्वेषां वर्गाणामुपकाराय सर्ग-प्रतिसर्ग-भगवच्चरितधर्मार्थकाममोक्ष-ज्ञानकर्मोपासनादिबहुविधवर्ण्यविषयैः सदुपदेशान्वितैः कथाप्रसङ्गैश्च। परिपूर्णमेतद् अष्टादशपुराणवाङ्मयं भगवत्स्वरूपेण महर्षिणा व्यासेन सम्यगुपनिबद्धम्। भगवान् प्रजापतिः वेदसम्मितमखिलं पुराणं वसिष्ठाय प्रायच्छत्, भगवान् वसिष्ठः पौत्रं (शक्तेः पुत्रम्) पराशरं, पराशरश्च जातूकर्ण्यमध्यापितवान्, जातूकर्ण्यस्तु द्वैपायनाय, द्वैपायनश्च श्रुतिसम्मतं पुराणज्ञानमिदं लोकतत्त्वविधानार्थं पञ्चशिष्येभ्यः जैमिनि-सुमन्तु-वैशम्पायन-पैलव-लोमहर्षणनामकेभ्यः प्राददात् (*ब्रह्मपुराणे* 1/1/8-14)। सर्गप्रतिसर्गादिवर्णनक्रमे सर्गत आरभ्य प्रतिसर्गपर्यन्तं सर्वविधसाध्यसाधनप्रक्रियाः पुराणेषु सविशेषं निरूपिताः। अष्टादशपुराणेषु महद्वैशिष्ट्ययुतमस्ति ब्रह्माण्डपुराणम्। मानवस्य ऐकान्तिकं चरमं च लक्ष्यभूतं शिवसायुज्यमत्र ब्रह्माण्डपुराणमाश्रित्य वर्णनीयमस्ति।

परमेश्वर एव सृष्टेरादिभूतं बीजम्। सृष्टिकामेनानेन अपां सृष्टिरादौ विहिता ततश्चाप्सु स्वकीयं बीजं विसृष्टम्। तदेव ब्रह्मणो बीजं हिरण्मयमण्डं सञ्जातं तस्माच्चाण्डात् ब्रह्मा प्रजापतिराविरभूत्। तेन ब्रह्मणा सृष्टमिदं जगत् ब्रह्माण्डसंज्ञयाभिधीयते। वायुप्रोक्ते ब्रह्माण्डे पुराणेऽस्मिन् निखिल एव जगत्प्रपञ्चः श्रवणपरम्परया आख्यानादिक्रमेण व्याख्यातोऽस्ति।[1] यत्तु सत्तत्त्वं तदेकमेव परं ब्रह्म स्वयंभूरिति। सृष्टिरियं तत एव प्रभवति नानारूपत्वं याति च। परमात्मनः चिन्मात्रं स्थानं मायामयं जगदिदं, महेश्वरश्चासौ 'मायी' इत्येवमाशंसितः। सर्वे देवास्तस्मिन्नेव उपसंहृतिं व्रजन्ति—

तस्येश्वरस्य चिन्मात्रं स्थानं मायामयं परम्।
मायया कृतमाचष्टे मायी देवो महेश्वरः।।
देवानामुपसंहारस्तत्प्रमाणं कीर्त्यते।
विस्तरेणानुपूर्व्या च ब्रुवतो मे निबोधत।।[2]

भूलोकादूर्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मलोकादप्यूर्ध्वं परञ्च तद् भगवतोऽण्डं विद्यते। तत एव स्वर्लोकपर्यन्तं चराचरमयं विश्वं प्रजायते। *ऋग्वेदस्य* पुरुषसूक्ते[3] वर्णितं परमात्मन एकपादेन विरचितं साशनानशनञ्चगदिदं, त्रिपात्पुरुषस्य प्रपञ्चरहितमत एव तदुपरिस्थितं निरञ्जनं शुद्धस्वरूपञ्चात्र *ब्रह्माण्डे पुराणे* एवं समुपबृंहितमस्ति—

ऊर्ध्वं भगवतोऽण्डं तु ब्रह्मलोकात्परं स्मृतम्।
एषोऽध्वर्गः प्रचारस्तु गत्यन्तश्च ततः स्मृतः।।[4]

तत्परब्रह्म चिद्रूपं रूपरसादिविषयैरसम्पृक्तः धर्माधर्माभ्यां पृथक् कार्यकारणयोश्च परमस्ति। स एव सृष्टि-स्थिति-संहृतिकर्मवशात् सत्त्वरजस्तमोरूपत्वं वृणीते। स एव लोककृत् लोकतत्त्वज्ञः सर्वद्रष्टा सर्वज्ञः। तदतिरिक्तं किमपि तत्त्वं नास्ति विश्वस्मिञ्चगति। इदमेव याथार्थ्यं पुराणस्यास्यारम्भ एवं निगदितमस्ति—

नमो नमः क्षये सृष्टौ स्थितौ सत्त्वमयाय वा।
नमो रजस्तमःसत्त्वत्रिरूपाय स्वयंभुवे।।[5]

विश्वात्मा परमेश्वर एष सर्वं व्याप्नोति। जगतः स्थितावपि स एव सद्रूपेण सर्वेषु विद्यते। अस्यैव विभूतिः विश्वस्मिञ्चगति नानात्वं व्रजति। अस्य जगदात्मनो नानारूपत्वं उपनिषत्साहित्ये बहुधा वर्णितमस्ति। *श्वेताश्वतरोपनिषद्* उदाहियतेऽत्र—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।[6]

ब्रह्माण्डपुराणे स ईश्वरः परमाणुरूपः प्रोक्तः। अणोरणीयान्महतो महीयानित्येवमस्य वैलक्षण्यं वेदवाङ्मये बहुत्र प्रतिपादितमस्ति। बुद्ध्या तर्केण वा प्रवचनेन शास्त्रज्ञानेन वा एष नैव ज्ञातुं शक्यते। स चेश्वरो भावग्राह्य इत्येवं सङ्केतः प्राप्यते—

अग्राह्यमकृतार्थानामालयं चेश्वरस्य यत्।
ईश्वरः परमाणुत्वाद् भावग्राह्यो मनीषिणाम्।।[7]

स एष परमेश्वरः अन्तो बहिश्च सर्वतः सर्वं व्याप्नोति। *ब्रह्माण्डपुराणे* प्रकृतिरस्य योनिरभिहिता। परमात्मनः प्रसृता एषा प्रकृतिर्नारायणात्मिका प्रोक्ता। परस्परगुणाश्रयात् सूक्ष्मा अप्येताः प्रकृतयः प्राकाश्यमुपगच्छन्ति—

सूक्ष्माः प्रसवधर्मिण्यस्ततः प्रकृतयः स्मृताः।
येभ्योऽधिकर्ता संजज्ञे क्षेत्रज्ञो ब्रह्मसंज्ञितः।। [8]

ईश्वराद्बीजनिर्भेदः क्षेत्रज्ञो बीजमिष्यते।
योनिं प्रकृतिमाचष्टे सा च नारायणात्मिका।। [9]

सर्गस्य कारणं सदसदात्मकम्।[10] तत एव अण्डमयो गर्भः ततश्च नानात्वमयी सृष्टिरुद्भासिता।[11] ब्रह्मा त्वत्र अविषयः क्षेत्रज्ञ इत्येवमथ अव्यक्तं विषयो वा क्षेत्रमित्यभिहितः। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विषयाविषयित्वमत्रैवं विवेचितमस्ति—

यस्मात् क्षेत्रं विजानाति तस्मात् क्षेत्रज्ञ उच्यते।
क्षेत्रं प्रत्ययते यस्मात् क्षेत्रज्ञः शुभ उच्यते।।
क्षेत्रज्ञः स्मर्यते तस्मात् क्षेत्रं तज्ज्ञैर्विभाष्यते।
क्षेत्रं त्वप्रत्ययं दृष्टं क्षेत्रज्ञः प्रत्ययः सदा।।
क्षपणात्कारणाच्चैव क्षतत्राणात्तथैव च।
भोज्यत्वविषयत्वाच्च क्षेत्रं क्षेत्रविदो विदुः।।[12] इति

महदारभ्य स्थूलविशेषपर्यन्तं तद् विलक्षणं प्राकृतं विकारलक्षणञ्जगत् यत्र अक्षरोऽपि क्षरमेति परन्तु न तु क्षीयते न क्षरति। एवमक्षरत्वमस्य प्रकीर्तितं सांख्ये *ब्रह्माण्डेऽस्मिन् पुराणे* च।[13] अनेकेषु अनेकधा विभज्यात्मानं स पुरुषः परमेश्वरो लोकव्यवहारं साधयति बहुत्वाच्च शरीरस्य स एक एव बहुधा प्रगीयते। एवं सांख्यवत्पुरुषनानात्वमत्रापि निर्दिष्टमस्ति।[14] अन्यत्राऽस्मिन् पुराणे—

सत्त्वस्थमात्रकं चित्तं यथासत्त्वं प्रदर्शनात्।
तत्त्वानां च यथातत्त्वं दृष्ट्वा वै तत्त्वदर्शनात्।।
सत्त्वक्षेत्रज्ञनानात्वमेतन्नानार्थदर्शनम्।।[15]

इत्येवं तन्नानात्वं प्रकाशितम्, एतन्नानात्वदर्शनमेव ज्ञानं ज्ञानाच्च योगाऽवाप्तिर्भणिताऽस्ति। यस्तु तेन नानात्वदर्शनेन बध्यते तस्य बन्धः, यस्तु मुच्यते तस्य मोक्षः सम्प्रकीर्तितः।

ब्रह्माण्डपुराणे सृष्टिस्थितिसंहृतिमयस्य लोकस्य एकमेव तत्कारणं परमेश्वरः शिवो रुद्रो वाऽभिहितः। स एव लोकमिमं सृजति पालयति संहरति च। सामानि यजूंषि चैतस्यैव माहात्म्यं प्रकाशयन्ति। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति इत्यस्मिन् प्रसिद्ध ऋङ्मन्त्रे उदितं तत्सत्तत्त्वं परमार्थत एकमेव। तस्यैतस्य महेश्वरस्य माहात्म्यमत्रैवं वर्णितमस्ति—

लोकान् सप्त इमान्भूयो महाभूतानि पञ्च च।।
विष्णुना सह संयुक्तः करोति विकरोति च।।
स रुद्रो यः साममयस्तथैव च यजुर्मयः।।
स एष ओतः प्रोतश्च बहिरन्तश्च निश्चयात्।।
एको हि भगवान्नाथः प्रभवश्चान्तकृद् द्विजाः।।[16]

नानारत्नसुवर्णाद्यलङ्करणैर्विभ्राजद् जनन-मरणभीतियुतानां निर्भयं शरणं शिवपुरमत्र वर्णितम्। नृत्यगीतैः वाद्यविनोदैश्च अनुरञ्ज्यमानाः शब्द-रूप-रसादिभोगैः तृप्तिमनुभवन्तः पुण्यकर्माणस्तत्र सुकृतानुरूपं मोदं

लभन्ते। एवं स्वर्लोकोऽत्र शिवपुरनाम्ना ख्याति प्राप्तः। ये तु मनसा वाचा कर्मणा विशुद्धान्ताः परमात्मनोऽनन्या भक्तिर्यैः समासादिता, ह्रीमन्तः शौर्यशीला निर्लोलुपा जितेन्द्रियाश्च ते भवस्यानुग्रहमवाप्य रुद्रसालोक्यं शाश्वतमव्ययं पदमेतदवाप्नुवन्ति—

ह्रीमन्तस्स्फूर्जिता दान्ताः शौर्ययुक्ता ह्यलोलुपाः।।
कर्मणा मनसा वाचा विशुद्धनान्तरात्मना।।
अनन्यमनसो भूत्वा प्रपन्ना ये महेश्वरम्।।
तैर्लब्धं रुद्रसालोक्यं शाश्वतं पदमव्ययम्।।[17]

तत्रैतस्मिन् शिवलोके जरामृत्युभीतिं परित्यज्य श्रीसम्पन्ना विविधाभरणैः शोभनवसनैश्च सज्जिताः स्वच्छन्दगतयः सिद्धा दुष्प्राप्यं कामभोगं सेवमाना मोदमनुभवन्ति। उमापतिः देवाधिदेवो महेश्वरश्चैतेभ्यो मोदं वितरति। ये तु सदाचारिणः करुणा-दयादिभावोपेता व्रतोपवासचारिणः शुद्धान्तःकरणाः छिन्नसंशया योगिनस्ते ज्ञानेन तपसा परया भक्त्या च कर्मबन्धमुक्तिस्वरूपं शिवसालोक्यं शाश्वतमव्ययं वा पदमवाप्नुवन्तीति समीरणो मातरिश्वा ऋषीनेवमुपदिशति—

योगं त्वनुपमं दिव्यं प्राप्तं तैश्छिन्नसंशयैः।।
प्रपद्य परया भक्त्या ज्ञानयुक्तेन तेजसा।।
तैर्लब्धं रुद्रसालोक्यं शाश्वतं पदमव्ययम्।।[18]

अधिभूताधिदेवाध्यात्मदृशा महविभूतिमद्धर्मतत्त्वं *ब्रह्माण्डपुराणे* पृथक्तया नैव विश्लेषितम्। शुद्धाचारप्रवृत्तिः धर्मशास्त्र- पुराणादीनामार्षानुशासनपुरःसरं स्व-स्ववर्णानुरूपमाश्रमोचितञ्च कर्मसम्पादनमेवञ्च सत्य-अहिंसा-करुणातपःप्रभृतिसाधारणधर्मस्यानुपालनं धर्मत्वेन सविशेषमालोचितमस्ति। शास्त्रोपदिष्टं स्वकर्माचरणमेव परमो धर्मः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवर्णानाम्। वर्णाश्रमाचारसम्पन्ना धर्मनिष्ठाः पुण्यं लभन्ते परमात्मनः शिवस्य परमं पदमनुगच्छन्ति च—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा स्वक्रियापरः।
लभते रुद्रलोकं वै कारणं लोककारणम्।।[19]

ये तु ऋषिप्रणीतानि धर्मशास्त्राण्यवमन्यन्ते, तत्र शिष्टं वर्णाश्रमधर्मञ्च नैवाचरन्ति तेऽत्र 'शिष्टशास्त्रविरोधका' इत्येवमुक्त्वा निन्दिताः। तेषामेष वर्णविरुद्ध आश्रमविरुद्धो वा आचारो नरकलोके तिर्यग्यौनौ वा जननस्य कारणं भवति।[20] वर्णाश्रमधर्मस्य सविध्यनुपालनमस्मिन् पुराणे अत्यन्तमेवाचरणीयमुपदिष्टम्—

वर्णाश्रमाचारयुक्तः शिष्टः शास्त्राविरोधिनः।
वर्णाश्रमाणां धर्मोऽयं देवस्थानेषु कारणम्।।[21]

अस्यैव परमात्मन इङ्गित्तेन लोकेऽस्मिन् धर्माचारः सम्पाद्यते सद्भिरथ च मोक्षस्यापि पन्थाः कर्मबन्धनात् अस्यैवानुकम्पया दृष्टिपथमायाति। यश्च शूद्रोऽपि सन् शिवभक्तो जितेन्द्रियोऽमद्यपश्च, संप्लवपर्यन्तं यः सर्वाङ्गसम्पन्नः सर्वथा स्थायित्वं व्रजति, सोऽसौ सर्वदैव गणपतिस्थानं सेवते—

अमद्यपश्च यः शूद्रो भवभक्तो जितेन्द्रियः।।
आभूतसम्प्लवस्थायी अप्रतीघातलक्षणः।।
गाणपत्यं स लभते स्थानं वा सार्वकालिकम्।।[22]

धर्माधर्मौ उभावपि परस्परं गुणमात्रकावभिहितौ। तत्र अहिंस्रं मृदु ऋतञ्चैव धर्मतत्त्वं तद्विपरीतं हिंस्र क्रूरम् अनृतञ्चाऽधर्मतत्त्वमिति। धर्मस्तु तदैव धर्मो यदा शिवतत्त्वं न जहाति। शिवसान्निध्येन भक्त ईश्वरत्वमैश्वर्य वा प्राप्नोति। भवः शर्व ईशानो महादेवः परमाणुमहेश्वरोऽयं सद्रूपो नीललोहितः सृष्ट्यर्थं सत्त्वरजस्तमोविशिष्टं स्वरूपमाधत्ते। स एष रुद्रः परमाणुमहेश्वर एव योगिनां तापसानाञ्च परमं साध्यम्। स एवाजोऽनादिः सर्व विश्वमावृत्य प्रकर्षेणाऽतिशेते। प्रादुर्भाव-तिरोभाव-स्थिति-अनुग्रह-विधिरन्यैरनौपम्यश्चास्यैव वैशिष्ट्यम्। अपरिमितं तेजःसन्दोहं बिभ्रदेष परमेश्वरो गहनं तमोराशिमतिक्रम्य विशदमालोकं वितनुते—

अनुत्पाद्यं परं धाम परमाणु परेशयम्।
अक्षयश्चाप्यनूह्यश्च त्वमूर्तिर्मूर्तिमानसौ।।
प्रादुर्भावस्तिरोभावः स्थितिश्चैवाप्यनुग्रहः।
विधिरन्यैरनौपम्यः परमाणुमहेश्वरः।।
सतेजा एष तमसो यः पुरस्तात्प्रकाशकः।।[24]

कल्पान्ते यदा महाभूतविनाशकाल आयाति विश्ववितानमिदञ्च विनिवृत्तम्भवति, मुक्तो जीवस्तदा निःसम्बन्धो लिङ्गमुक्तश्च सन् अचैतन्योऽपि स्वात्मन्यवस्थानं भजते तस्याञ्चावस्थायामसौ विरूपाख्यया सम्बोध्यते।[25] जीवमोक्षोऽयं त्रिविधः प्रोक्तः। प्रथमस्तावद् ज्ञानेन यो वियोगः सञ्जायते, द्वितीयो विषयरागसंक्षयात् सिध्यते, तृतीयश्चैष तृष्णाक्षयात्सम्पन्नतां यातीति—

स चापि त्रिविधः प्रोक्तो मोक्षो वै तत्त्वदर्शिभिः।
पूर्वं वियोगो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।।
तृष्णाक्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षकारणम्।।[26]

मोक्षहेतौ सम्पन्ने लिङ्गशरीराभावाज्जन्तुः कैवल्यपदावाप्तये प्रभवति। कैवल्यं तु निरञ्जनत्वं सर्वथा निर्मलत्वं येन शुद्धः प्रबुद्धोऽसौ पराङ्गतिमधिगच्छति।[27] एवं वेदान्ते यद् अद्वैततत्त्वदर्शनं मोक्षस्य कारणं स्मृतमस्मिन् *ब्रह्माण्डे पुराणे* तु सत्त्वक्षेत्रज्ञनानात्वज्ञानं नानात्वज्ञानेन मोक्षस्य सिद्धिर्लिङ्गे व्यत्यये च कैवल्यपदावाप्तिर्भणिता। शुद्धो जीवः स्वयमेव मुक्तिं व्रजति, नान्यः कश्चिदेनमग्रेनयनाय प्रवर्तते। स तु निरञ्जनमवाच्यमग्राह्यमप्रतर्क्य क्षेत्रज्ञं प्राप्नोति –

यद् गत्वा न निवर्तन्ते क्षेत्रज्ञं तु निरञ्जनम्।
अवाच्यं तदनाख्यानादग्राह्यं वादहेतुभिः।।
अप्रतर्क्यमचिन्त्यत्वादवार्यत्वाच्च सर्वशः।
नालप्यं वचसा तत्त्वमप्राप्यं मनसा सह।।
क्षेत्रज्ञे निर्गुणे शुद्धे शान्ते क्षीणे निरञ्जने।
व्यपेतसुखदुःखे च निरुद्धे शान्तिमागते।।
निरात्मके पुनस्तस्मिन् वाच्यावाच्यं न विद्यते।[28]

सृष्टयां ब्रह्मणः स्थितिकाले सम्पूर्तिङ्गते प्रत्याहारस्य स्थितिर्भवति तस्मिंश्चाव्यक्तेन सर्वमेव व्यक्तं ग्रसितं जायते। भूततन्मात्रस्य महदादिविकारस्य च संक्षय उपपद्यते। पृथिव्या गन्धात्मको गुणोऽप्सु प्रलीयते, तदा तु धरा सर्वत आपोमयी सम्पद्यते, गन्धतन्मात्रं तु विनश्यति। वेगवतीनामपां रसस्तु ज्योतिःषु आलीयते, एवं रसतन्मात्रं विनश्यते तथा चाऽग्निरर्चिभिः सर्वं जगदिदं व्याप्नोति। ज्योतिषो गुणो रूपं वायुना ग्रस्यत एवं रूपतन्मात्रं क्षयति वायुश्चोर्ध्वमधः तिर्यक्च सर्वा दिश आन्दोलयति।। वायोर्गुणः स्पर्शश्च आकाशेन ग्रसितो भवति, तदा स्पर्शतन्मानं प्रणश्यति रूपरसगन्धस्पर्शरहितं नभोऽनावृत्तममूर्तिमदवशिष्यते सर्वञ्च तथा शब्दैरापूरितं संजायते। शब्दतन्मात्रन्तद् भूतादिना ग्रस्यते।[29] भूतादौ अभिमानात्मको भूतादिः तामसः कथितः। बुद्धिर्मनो लिङ्गमित्यत्र एक एव महानक्षरः पर्यायशब्दैर्व्यक्तिमवाप। भूतानि यदा प्रलीयन्ते तदा गुणसाम्यत्वमुपपन्नम्भवति। गुणसाम्यमप्येतत्स्वात्मन्येव लीनतां याति तथा च सर्वभूतानां कारणान्येव प्रणष्टानि भवन्ति।[30]

लोकेऽस्मिन् जन्तूनां राजसी तामसी सात्त्विकी चैव तिस्रो वृत्तयो वर्णिताः। तत्र सत्त्वमूर्ध्वदेशात्मकमुन्नेतुं प्रभवति तमश्चाधोभागात्मकमधःपतनाय कल्पते; एतयोर्मध्ये इहैव लोकेऽस्मिन् प्रवर्तकं रज इति। पुरुषाश्रयेण तिसृभिर्वृत्तिभिर्गुणा एव प्रवर्तन्ते। तपो ज्ञानं शुभं सत्यमनृतम् ऊर्ध्वभावोऽधोभावः सुखं दुःखं प्रियमप्रियञ्चैतत्सर्वं गुणमात्रात्मकम्।[31] तत्त्वज्ञैर्मनीषिभिरिदं याथार्थ्यं सम्यगनुभूयते। धर्माधर्मौ च प्रकृतिगुणानां रजस्तमःसत्त्वाख्यानां बलाबलवैषम्येण विहितैः कृत्यैरेव समासाद्येते। *श्रीमद्भगवद्गीतायां* भगवान् श्रीकृष्णः कौन्तेयं सृष्टिप्रपञ्चस्य सूत्रमिदमेवं विश्लिष्य कर्मोपदेशं करोति—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।[32]
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।[33]

तमःप्रकर्षाज्जन्तुः जगतो याथार्थ्यं नैव परिचिनोति। तत्त्वदर्शनं विना स त्रिविधैर्बन्धनैराबध्यते। तत् त्रिविधं बन्धनमत्र प्राकृतं तथ्यावैकारिकं दक्षिणा इत्येवमाख्यातमस्ति। एतानि बन्धनान्यज्ञानहेतुकानि अज्ञानञ्चात्र *ब्रह्माण्डपुराण* एवं व्याख्यातम्- अनित्ये नित्यत्वदर्शनं दुःखे सुखाशंसा अस्वे स्वत्वप्रतीतिरशुचौ

शुचिविचारणा-एते मनोदोषा ज्ञानदोषाश्च वर्तन्ते। ज्ञानस्य स्थितिरेतद्विपरीतमस्ति। अज्ञानं तमोमूलं तदाश्रितं कर्म च जननमरणहेतुः महद्दुःखजनकञ्च—

अनित्ये नित्यसंज्ञा च दुःखे सुखदर्शनम्।
अस्वे स्वमिति च ज्ञानमशुचौ शुचिनिश्चयः।।
येषामेते मनोदोषा ज्ञानदोषा विपर्ययात्।
रागद्वेषनिवृत्तिश्च तज्ज्ञानं समुदाहृतम्।।
अज्ञानं तमसो मूलं कर्मद्वयफलं रजः।
कर्मजस्तु पुनर्देहो महादुःखं प्रवर्तते।।[34]

विषयेन्द्रियप्रसङ्गात् यानि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते तैरेव तृष्णाया उद्भवः सम्पद्यते। एवं स्वकृतैः तृष्णान्वितैः कर्मफलैरज्ञानोपहितो जीवस्तैलपीडकवत् तत्रैव परिक्रामति।[35] अज्ञानमूलो विषयरागश्चैवं सम्भूत्या बन्धनस्य वा कारणमिति—

इत्येष वैषयो रागः सम्भूत्याः कारणं स्मृतः।
ब्रह्मादौ स्थावरान्ते वै संसारे ह्याधिभौतिके।।[36]

तदेतदज्ञानमनर्थानां मूलं शत्रुवदपकारि च। मोक्षावाप्तये ज्ञानस्यात्यन्तिकी आवश्यकता विद्यते। ज्ञानादेव सर्वो विषयासङ्गश्छिद्यते। विषयासङ्गपरित्यागाच्च बुद्धिर्विरक्तिं याति वैराग्याच्छुद्धिरवाप्यते शुद्धश्चासौ चरमं पुरुषार्थमवाप्नोति—

तस्मान्मूलमनर्थानामज्ञानमुपदिश्यते।
तं शत्रुमवधार्यैकं ज्ञाने यत्नं समाचरेत्।।
ज्ञानाद्धि त्यज्यते सर्वं त्यागाद् बुद्धिर्विरज्यते।।
वैराग्याच्छुध्यते चाऽपि शुद्धः सत्त्वेन मुच्यते।।[37]

ये तु विषयप्रसङ्गरहिता निरिन्द्रिया ज्ञानिनस्तान् धर्माधर्मौ सुखदुःखे वा नैव स्पृशतः।[38] शुद्धबुद्धयो विज्ञानवन्तो व्यपेतकोशा रजोरहिताश्च ते ब्रह्मपदमवाप्नुवन्ति।[39] *ब्रह्माण्डपुराणस्यास्य* श्रवणस्य श्रावणस्य च फलं मोहनाशो। महेन्द्रस्थानेष्वसङ्ख्यवर्षाणि यावत्सुखलाभो ब्रह्मसायुज्यप्राप्तिः सर्वपापोपशमनं पुण्यार्जनं दिवि देवैस्सह मोदावाप्तिश्चेति विविधं प्रख्यातमस्ति।[40] इदं पापघ्नं यशस्यमायुष्यं पुण्यं सर्वार्थसाधकञ्च प्रोक्तम्।[41] नरं धर्माचारसमन्वितं मानवं विधातुं भारतवर्षीयाणां विद्यानां शास्त्रानुगतायाः संस्कृतेश्चापि या सरणिर्विद्यते। तामभ्युदयनिःश्रेयससाधिकां सरणिमुपस्थापयति ब्रह्माण्डपुराणम्। जिज्ञासवोऽत्र ज्ञानं लभन्ते भोगेप्सवो भोगं मुमुक्षवश्च मुक्तिमधिगन्छन्तीति सर्वाभीष्टप्रदमेतत्पुराणं प्रकीर्तितम्। ब्रह्मणा वायवे प्रदत्तं, ततो गुरुशिष्यपरम्परयाऽवाप्तं पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्माण्डपुराणमिदं योगिभ्यो ज्ञानिभ्यो भक्तिमार्गोपपन्नेभ्यश्च सर्वथाऽभीष्टं प्रयच्छति। कर्मणा मनसा वाचा विशुद्धनान्तरात्मना ये महेश्वरं प्रपद्यन्ते, ते शाश्वतं शिवसालोक्यमवाप्नुवन्तीति।[42]

सन्दर्भसूची

1. श्रवणपरम्परयाऽवाप्तं वेदज्ञानं तु श्रुतीत्येवम् 'अनुश्रव' इत्येवं वा नाम्ना प्रख्यातमस्त्येव। देवर्षिमुखोच्चारण-श्रवण-परम्परया प्राप्तमिदं ब्रह्माण्डपुराणमपि श्रुतिसंज्ञां लभते यथा पुराणेऽस्मिन् शिवपुरवर्णननामके द्वितीयेऽध्याये द्रष्टव्यमस्ति- यः पठेत्तपसा युक्तो वायुप्रोक्तामिमां श्रुतिम्।। *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/287
2. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/221-222
3. *ऋग्वेदः* 10/90/4
4. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/224-225
5. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 1/1/1
6. *श्वेताश्वतरोपनिषद्* 4/1
7. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/217
8. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/226
9. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/231
10. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/291
11. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/230
12. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/87-89 29
13. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/90, 94
14. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/300-305
15. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/53-54
16. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/281-283
17. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/249-250
18. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/286-287
19. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/288
20. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/49-50
21. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/74
22. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/314-315
23. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/4/32
24. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/227-229
25. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/56-57
26. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/50-59
27. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/59-60
28. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/102-107
29. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/4-19
30. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/23-24
31. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/25-26
32. *श्रीमद्भगवद्गीता* 3/28
33. *श्रीमद्भगवद्गीता* 3/29
34. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/39-41
35. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/42-43
36. *ब्रह्माण्डपुराणम* 4/3/48
37. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/44-45
38. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/3/27-28
39. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/214-215
40. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/4/46-57
41. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/4/68-69
42. *ब्रह्माण्डपुराणम्* 4/2/250, 284-285

एसोसिएट प्रोफेसर,
संस्कृत विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी।

काश्मीर शैवागम के *विज्ञानभैरव* में 'भैरवतत्त्व' की नाद-बिन्दु-विसर्गात्मिका समीक्षा

डॉ. प्रदीप

संक्षिप्तिका (Abstract)—भारतीय ज्ञान परम्परा में काश्मीर शैवदर्शन का अन्यतम स्थान है। इसका आधार आगम शास्त्र हैं। आगमशास्त्रों के स्रष्टा स्वयं भगवान् शिव माने जाते हैं। भगवान् शिव ने अपने पञ्चमुखों के द्वारा शैवागमों का प्रादुर्भाव किया एवं इसने प्रचारार्थ अपने शिष्य ऋषि दुर्वासा को आदेश दिया। इस ज्ञानपरम्परा में ऋषि दुर्वासा ने अपने आर्षज्ञान से त्र्यम्बक, आमर्दक तथा श्रीनाथ नामक तीन मानसपुत्रों को जन्म दिया। इनमें क्रमश: त्र्यम्बक को अद्वैतमत, आमर्दक को द्वैतमत एवं श्रीनाथ को द्वैताद्वैत मत का उपदेश प्रदान किया। इस प्रकार काश्मीर शैवज्ञानपरम्परा में आगमशास्त्रों सहित अनेक आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके द्वारा यह काश्मीरशैवशास्त्र पुष्पित एवं पल्लवित होकर जनमानस के ज्ञानपटल तक प्रचारित एवं प्रसारित हुआ। काश्मीर शैवगामों में *मालिनिविजयोत्तरतन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, शिवसूत्र* एवं *विज्ञानभैरव* आदि का नाम प्रमुख है। इन आगम ग्रन्थों में शिव-पार्वती के संवादों का वर्णन हैं। इनमें आगम, तन्त्र, योग, आध्यात्म एवं साधना के गम्भीर विषयों का वर्णन प्रतिपादित है। इनमें विज्ञानभैरव शिव-पार्वती के संवाद प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ है। इसमें तन्त्रसाधना के गम्भीर एवं रहस्यात्मक विषयों का सरलता के वर्णन किया गया है। सम्प्रति *विज्ञानभैरव* पर कुल दो टीकाओं की प्राप्ति मानी जाती हैं जिनमें काश्मीर शैवाचार्य क्षेमराज की उद्योत टीका एवं शिवोपाध्याय की विवृति सहित तथा दूसरी भट्ट आनन्द की *विज्ञानकौमुदी* उपलब्ध है।

प्रस्तुत शोधपत्र में **"काश्मीर शैवागम विज्ञानभैरव में 'भैरवतत्त्व' की नाद-बिन्दु-विसर्गात्मक समीक्षा"** का संक्षिप्त विवेचन प्रतिपादित है।

शब्द-संकेत (Key-Words)—भैरव शब्द का अर्थ, शिवशक्ति का स्वरूप, परमतत्त्व का स्वरूप, भैरव का नादमय, बिन्दुमय एवं विसर्गमय स्वरूप।

विषयवस्तु (Subject)—विज्ञानभैरव की अवतारणा देवी और भैरव के संवाद रूप में हुई है। यह *रुद्रयामलतन्त्र* का सार है। विज्ञानभैरव के अन्तिम श्लोक में इसका वर्णन मिलता है—

रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम्।
सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च।[1]

अत: इस तन्त्र ग्रन्थ को शिव के द्वारा प्रणीत माना जाता है। क्योंकि स्वयं भगवान् शिव आगमों के स्रष्टा एवं वक्ता कहे जाते हैं—

साधु साधु त्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिये।
गूहनीयतमं भद्रे तथापि कथयामि ते॥[2]

इस प्रकार से स्वयं भैरव रूप शिव देवी को तन्त्राशास्त्रों के सार का वर्णन बतलाते हैं। यह भैरव ही सृष्टि का मूल कारण है। शैवागमों में अनेक नामों से प्रतिपादित है। विज्ञानभैरव में सृष्टि प्रक्रिया के संदर्भ में स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जिसमें कहा गया है कि – विज्ञानभैरव क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर क्षेमराज विवृति में मिलता है– **"भया संवित्प्रकाशरूपया ऐकार: क्रियाशक्तिमान् महेश्वर: सर्वं रवयति विमृशति इति भैरव: इति एतदेव अभिधेयम्। यद्वा भया ज्ञानात्मिकया शक्त्या ऐकारेण माहेश्वर्यव्यञ्जिकया क्रियाशक्त्या सर्वं विमृशति"।**[3]

विज्ञानभैरव में स्पष्ट कहा गया है—

भया सर्वं रवयति सर्वदा व्यापकोऽखिले।
इति भैरवशब्दस्य सन्ततोच्चारणाच्छिव:॥

अर्थात् सर्वत्र व्यापक भय के कारण संवित्प्रकाश से संचालित करने वाला, सर्वशक्तिमान् भैरव का निरन्तर उच्चारण करते हुए मनुष्य भैरवरूप हो जाता है। यही भैरव विश्व का भरण,रवण और वमन करने वाला है। यह संसार का भरण-पोषण करता है। सृष्टि और संहार करता है। यह भैरव विज्ञानस्वरूप है, बोधात्मक है, चिदात्मक है।[4]

यही शिव और शक्ति के प्रकाश—विमर्शात्मक का सामरस्य है। इसके स्वरूप अनेक हैं। इसको यहाँ परमतत्त्व,,पराशक्ति, शिवशक्ति का स्वरूप, नाद भावना, शून्य भावना, अनुत्तरतत्त्व विवेचन, सप्तविध समाधि, भैरवस्वरूप इत्यादि नामों से जाना गया है। अनुत्तरतत्त्व स्वरूप को धारण करके यह अनेक प्रकार की लीलाएँ करता है। यह पञ्चकृत्यकारी की लीला है। इस प्रकार यह शिव नादमय, बिन्दुमय एवं विसर्गमय के स्वरूप को धारण करते हुए स्वेच्छा से सृष्टि की रचना करता है। इसके संदर्भ में *विज्ञानभैरव* में स्पष्ट उल्लेख देवी के प्रश्नों द्वारा किया गया है।

विज्ञानभैरव परमशिव का स्वरूप—देवी भैरवी सृष्टि के संदर्भ में भगवान् शिव से आठ प्रश्नों को पूछती है[5]—

किं रूपं तत्त्वतो देव ? शब्दराशिकलामयम्॥
किं वा नवात्मभेदेन भैरवे भैरवाकृतौ।
त्रिशिरोभेदभिन्नं वा किं वा शक्तित्रयात्मकम्॥
नादबिन्दुमयं वापि किं चन्द्रार्धनिरोधिका।
चक्रारूढमनच्कं वा किं वा शक्तिस्वरूपकम्॥

1. अनुत्तर तत्त्व स्वरूप क्या है ?
2. 36 तत्त्वात्मक मन्त्रराज का स्वरूप क्या है ?
3. नवात्मक मन्त्र का स्वरूप क्या है?
4. नर-शक्ति-शिवात्मिका तत्त्वत्रय की अधिष्ठात्री अपरा,
5. परापरा और परा नामक शक्तियों वाला यह तत्त्व क्या है ?
6. बिन्दु और नाद के ही प्रपञ्च अर्धचन्द्र,निरोधिका आदि का स्वरूप क्या है ?
7. मूलाधार आदि चक्रारूढ (अनच्क) में कौन तत्त्व विद्यमान है ?
8. भैरव का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

तत्पश्चात् श्री भैरव ने कहा—हे प्रिये ! तुमने यह अतिश्रेष्ठ प्रश्न मेरे सामने रखा है। हे भद्रे ! जो अत्यन्त गोपनीय एवं सम्पूर्ण तत्त्वों का सार है, फिर भी तेरे सामने कहता हूँ। भैरव कहते हैं- त्रिकतन्त्रों में भैरव का स्वरूप सकल और निष्कल दो रूपों में वर्णित किया गया है। यह निस्सार है।

यह इन्द्रजालिक समान मायिक स्वपन्नतुल्य और गन्धर्वनगर के समान भ्रमात्मकम् है। क्योंकि भैरव का स्वरूप न ही नवात्म, नवतत्त्वरूप या वामादि नवशक्तिरूप है, न वह शब्दराशिस्वरूप है, न त्रिशिरोभैरव है, न ही वह नर-शक्ति-शिवात्मक या -इच्छा-ज्ञान- क्रियात्मक शक्तिस्वरूप है। यह न ही नाद (शक्ति) और बिन्दु (शिव) के रूप में शब्द और अर्थ है और न ही ज्ञान और क्रियारूप है और न ही प्रणव अर्धचन्द्र और निरोधिका आदि कलाओं का स्वरूप है। यह भैरव षट्चक्रों का भेदन करके नही जाना जाता है, और यह न ही शक्तिरूप है।[6] स्तुत: तत्त्व यह अकथनीय, अवर्णनीय है अर्थात् अनुत्तरतत्त्व है।

भैरव का त्रिविधात्मक स्वरूप—भैरव के त्रिविधात्मक स्वरूप का वर्णन करते हुए विज्ञानभैरव में कहा गया है—यह परमतत्त्व दिशा और काल के व्यापार से मुक्त दूर या समीप के भेद से रहित प्रतिपादन के अयोग्य वह तत्त्वत: अनिर्वचनीय है। वास्तव में भीतर ही भीतर अपने अनुभव मात्र से आनन्द देने वाली और संकल्प-विकल्प से मुक्त होकर अनुभूत होने वाली जो परिपूर्ण आकार वाली जो अवस्था है, वही भैरवी शक्ति है। इस प्रकार विश्व को भरने वाले, विमल भैरव वास्तविक स्वरूप को जानना चाहिए।[7] भैरव की यही अवस्था परा है, जिस पर होने से परा देवी कहा गया है।[8] इनमें सदैव अभेद रहता है। जैसे शक्ति और शक्तिमान् का सदा अभेद रहता है, उसी प्रकार परमात्मा की शक्ति उस धर्म से युक्त होने कारण परा देवी कहलाती है।[9] इस पराशक्ति के द्वारा शिवतत्त्व को पाया जा सकता है।

यह अभेद रूप में विद्यमान रहता है, जिस प्रकार से शक्ति और शक्तिमान् का उदय सदा अभेद रहता है, उसी प्रकार परमात्मा की शक्ति उस परमात्मा धर्म से युक्त होने के कारण परादेवी कहलाती है।[10] जब जीव इस पराशक्तिरूप अवस्था में प्रवेश करता है और अणुरूप का उपदेश प्राप्त करता है तब उसकी निर्विभाग भावना

दृढ़ होती है। उसका बल प्राप्त करते जीव शिवरूप बन जाता है, क्योंकि शिव की यह पराशक्ति शिवतत्त्व में प्रवेश करने का प्रधान द्वार है।[11] भैरव यहाँ स्वयं वर्णन करते हैं कि – ऊर्ध्व में (हृदय के द्वादशान्त पर्यन्त) प्राण है और अध: (द्वादशान्त से हृदय-पर्यन्त नीचे आने वाला वायु) अपान है। परा का यह स्पन्दन अन्त: और बाह्य उन्मेष करने वाली दो प्रकार की उत्पत्तियों के स्थान (हृदय और द्वादशान्त) को भरने के कारण भरितावस्था है, जो भैरव की अभिव्यक्ति करती है।[12] साधना अवस्था में प्राण और अपान को भरण करने के कारण यह भरिता-शक्ति कहलाती है। प्राण और अपान उन्मेष और पद के नाम से कहे गये हैं। अत: समग्र वाचक वर्णों के भीतर अनुप्राणित होने वाला अकार ऊर्ध्व कहलाता है। अन्तिम वर्ण सकार अध: कहलाता है। इस प्रकार से अकार से सकार तक और सकार से अकार तक गमन आगमन शक्ति के अन्त में हकार परिलक्षित होता है, वह कलनात्मा नादरूप है, वही परा कहलाती है।[13] जीव के द्वारा जब सतत अभ्यास किया जाता है तब जन्माग्र (अकुलचक्र), मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी नाम के बारह चक्रों में संयुक्तस्वर—ए, ऐ, ओ, औ को छोडकर अकार से लेकर विसर्गान्त बारह स्वर से क्रमश: भेदन करता हुआ साधक ज्योति को प्राप्त करता है।

अन्त में वह शिवरूप बन जाता है।[14] यह ज्योति कपाल छिद्र में स्थित होती है। भ्रूचक्र के भेदन के पश्चात् इसका दर्शन होता है। यह साधक की परमा स्थिति होती है। इससे वह अनाहत,श्रवणगोचर, अविच्छिन्न ध्वनिवाले एवं नदी के वेग समान शब्दब्रह्म में निष्णात योगी परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसमें वह निरन्तर प्रणव का उच्चारण का अभ्यास करता है।

भैरव का नादमय स्वरूप :- साधना अवस्था में साधक सर्वप्रथम आदि शब्द प्रणव का ध्यान करता है। यह वेद का प्रणव ॐ, शिव का प्रणव हूँकार, माया प्रणव ह्रींकार आदि का वर्णन किया गया है। ह्रस्व से अर्धमात्रा, अर्धमात्रा से बिन्दु, बिन्दु से नाद, नाद से शून्य, शून्य से परा और शून्यभाव में पराभैरवत्व को प्राप्त होता है। प्रणव का स्पष्ट अर्थ तो उकार और मकार है, जो व्यस्तरूप में परब्रह्म का प्रतिपादक हैं। साधना पथ के क्रम में साधक पिण्ड मन्त्र के स्थूल वर्णों के क्रम से उच्चारण के बाद अर्द्धेन्दु, बिन्दु, नाद, नादान्त के बाद शून्योच्चारण से वह शिवरूप बन जाता है-

"पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थुलवर्णक्रमेण तु।
अर्द्धेन्दुबिन्दुनादन्त: शून्योच्चारद्भवेच्छिव:"॥[15]

साधना के समय साधक के हृदय में किसी प्रेरणा के ॐ का जप होता रहता है। जिसके गर्भ में सम्पूर्ण शास्त्र व्याप्त है, तथा हृदय में निरन्तर ध्वनि करते रहने के कारण उस परम पद ॐ का वही सत्य है, वही अक्षर है। उस तेज का सभी साधक ध्यान करते हैं। हृदय, कण्ठ, तालु में अपनी द्वादश मात्रा अकार से लेकर उन्मनी प्रत्येक स्थल में नाभि से लेकर शिक्षा पर्यन्त अनेक विभागों में स्थित ॐ की इस वर्णक्रम स्थूल भावना अ, उ, म् के रूप में उचारित होती है।

बिन्दु से लेकर समना पर्यन्त अर्धमात्रा और उसके ऊपर शिव का स्थान है। उसके द्वारा स्थूलाक्षर आनुपूर्वी से उपलक्षित पिण्ड़मत्र का बिन्दु, अर्धचन्द्र, नादान्त और शून्य का क्रम होता है। अकार से समना पर्यन्त यह शून्य रूप उच्चारण वह परमत्त्व का रूप बन जाता है।[16]

तन्त्रग्रन्थों में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है—उन्मना यहाँ सूक्ष्म पराशक्ति रूप ही है। इसके अस्तित्व का क्षोभ करते समय क्षोभ्य वस्तु के रूप में ही आत्मा में आभासित होता है। उसी का नाम समना है। जो सभी मार्गों में सदा गतिशील है और सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर समा लेती है और पुन: उत्पन्न कर देती है। यह कुण्ड़लिनी नामक महाशक्ति है। जो तृतीया के रूप में व्यवहार में लाई जाती है। उसके द्वारा शिव के शरीर से ध्वनि के रूप में स्फोट रूप से प्रादुर्भाव होता है और वह अतिवेग से सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण करता हुआ अत्यन्त वेग से उस महादेव के नाद स्वरूप सदाशिव के नाम से कहा गया है।

इसके भीतर नादान्त शक्ति भी है। ध्वनि के मार्ग से गया हुआ नान्दान्त जहाँ पर बिना रोके हुए विश्राम करता है उस शक्ति का नाम निरोधिनी है। वह सभी देवताओं का निरोध करने में समर्थ है। उस निरोधिनी महेश्वर की महिमा अवर्णनीय है। उस महेश्वर में असंख्य कोटि मन्त्रों की सत्ता है। जो उसमें प्रवेश करता है, वह शक्ति को प्राप्त करता है। यही निरोधिका नामिका मन्त्रशक्ति की कला है और वही बिन्दु महेश्वर बिन्दु कहलाता है। जब यह शिवामृत मस्तक पर गिरता है तो सृष्टि का कारण बनता है। इससे जो पल्लवित होता है, वह अर्धचन्द्र कहलाता है। यही अर्धचन्द्र बिन्दुपात से ऊपर चढ़ता है, तब संहार नाम को धारण करता है और वही सभी भूतों का कारण है। यही नाद का अवरोहण सृष्टि का कारण बनता है। मकार यहाँ पर रुद्र है, जो उत्तम वर्ण संघट्टन से उत्पन्न होता है।

जब यह स्थिति को पा जाता है तब अपने अभिमुख होकर सृष्टि का कारण बन जाता है। जब यह उचित स्थान पर प्रतिष्ठित होता है तो पालन करने के कारण उकार के रूप में समक्ष आता है।[17] साधना की अवस्था में योगी निरन्तर अकार को जपता है। इस अकार को जपता हुआ वह महान हो जाता है—

अबिन्दुमविसर्गं च अकारं जपतो महान्।
उदेति देवि सहसा ज्ञानौघ: परमेश्वर:॥

अर्थात् वह बिन्दु, विसर्ग रहित केवल अकार को जपता हुआ योगी महान् ज्ञान धन परमेश्वर का सहसा साक्षात्कर कर लेता है।[18]

भैरव का नादमय स्वरूप—बिन्दु अविभक्त चिन्त (अद्वैतज्ञान) को कहते हैं। विसर्ग-भेद प्रथा उत्पादन-क्रिया-बाह्यादि शक्तिरूप ककारादि सृष्टिरूप इन दोनों तत्त्वों से रहित अकार है। वही प्रथम अक्षर है। क्योंकि यह सारे कारणों से रहित चिन्तनात्मक अनुत्तर विमर्श करते हुए अनेक ज्ञानों का प्रसार करने वाले सृष्ट परमेश्वर का प्रादुर्भाव होता है। शास्त्रों में कहा भी गया है- जो आद्यवर्ण है वही परमेश्वर शिव है, जो नाद और बिन्दु स्वरूप है। वही ईश्वरी शक्ति है। इस चराचर जगत् के दोनों बीजभूत है। तत्त्वचिन्तक योगी इसे

शब्दब्रह्म कहते हैं।[19] वह स्वेच्छा से पाँच प्रकार की लीला करता है। *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* के मंगलाचरण में भी कहा गया है-

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने॥

अर्थात् उस परमतत्त्व शिव को मेरा नमस्कार जो सृष्टि, स्थिति, संहार,तिरोभाव तथा अनुग्रह नामक पञ्चकृत्य करता रहता है।[20]

साधनावस्था में इसका आनन्द लेता हुआ लीन रहता है। साधक विसर्ग युक्त वर्ण का ध्यान करता है जिससे बाह्य सृष्टि का अन्त होकर वह अपने चित्त से सनातन ब्रह्म का स्पर्श करना चाहिए।[21]

विसर्ग का स्वरूप—विसर्ग का विश्लेषण करना ही सत्रहवीं कला है। वही सत्रहवीं कला मन के प्रक्षोभ के योग से अठारहवी हो जाती है। इस प्रकार अनुत्तर अकार का उच्चारण परमभैरव स्वरूप है। यह अकुलचक्र की पराशक्ति और कौलिकीशक्ति कहलाती है। यह वही विसर्ग है, जिससे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है।[22] उसके प्रक्षोभ को ही प्रक्षोभकलना का उदय माना जाता है। जिससे धीरे-धीरे क्रम नष्ट हो जाता है। इस प्रकार छः स्वरूपो वाला सारा विसर्गान्दोलन बताया गया है। जिसके आगे कोई स्वभाव नही है। उस अनुत्तर स्वभाव वाले अकार का ही यह सब प्रपञ्च है। वही अन्तः प्रविष्ट नित्य परिस्फुरणात्मक भगवान् है जो अपने भीतर स्थित सम्पूर्ण भावनाओं की पूर्ण शक्ति है। इस प्रकार के विसर्ग स्वरूप में बुद्धि को स्थिर करना चाहिए। यह सारा अकुलचक्र का मातृ-प्रपञ्च शिव बिन्दु के नाम से और विसर्ग शक्ति के नाम से कहा जाता है। शास्त्रों में इस प्रकार का वर्णन किया गया है। विसर्ग कौलिकी शक्ति है, और उससे उत्पन्न होने वाला यह मातृका का प्रपञ्च है। इस शिव बिन्दु को ही अकुल भी कहा जाता है। उस शिव का विसर्ग ही कौलकी शक्ति है। उस कौलिकी शक्ति के द्वारा ही अ से क्ष तक के वर्णों की उत्पत्ति होती है।[23]

इनके सतत अभ्यास से योगी परम आनन्द को प्राप्त करता है। इससे शिव से संयुक्त हो जाता है। यह दृढभावना द्वारा ही सिद्ध होता है, अन्त में वह स्वयं को साक्षात् शिव का सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, व्यापक, परमेश्वर और शिव धर्म वाला मैं ही हूँ, ऐसी दृढभावना उसको साक्षात् शिव से संयुक्त कर देती है-

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याद्भवेच्छिवः॥[24]

सतत अभ्यास के बाद जीव भैरव का रूप भी धारण कर लेता है। भैरव शब्द का अर्थ है—संवित् प्रकाशरूप शक्ति एकार और क्रियाशक्तिमान् महेश्चर को विमर्श रूप में प्रकट करने वाला भैरव कहलाता है। इसमें अकार अनुत्तरस्वरूप है, इकार इच्छारूप, अनुत्तर में विश्रान्ति होना यही आनन्द है और इच्छा में विश्रान्ति होना ईषणा है। ये दोनों संवित् प्रकाश का बोध कराते हैं।[25]

उपसंहार (Conclusion) :- अन्त में स्वत: स्पष्ट होता है कि काश्मीर शैवागम *विज्ञानभैरव* के अनुसार भैरव अपने विभिन्न स्वरूपों को आनन्द की प्राप्ति हेतु ग्रहण करता है। जिसमें साधना अवस्था में नाद, बिन्दु और विसर्गमय होता हुआ सृष्टि की रचना करता है। इसके पर्याय तन्त्रागमीय ग्रन्थों में पदे-पदे प्रतिपादित है। वह स्वेच्छा से सृष्टि का सम्पादन करता हुआ अनेक शरीरों को धारण करता है। *शिवसूत्र* में स्पष्ट कहा गया है – "योनिवर्ग: कलाशरीरम्"।[26] साधक द्वारा जब साधना में परम शिव का साक्षात्कार होता है तब वह साधक भी शिवस्वरूप बन जाता है। यह साधक परमशिव को भैरव, नाद, बिन्दु एवं विसर्ग सभी स्वरूपों में अनुभव करता हुआ आनन्दित होता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

1. *विज्ञानभैरवम्* : आचार्यक्षेमराजविरचित, शिवोपाध्यायविवृति सहित, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, संस्करण, 1991
2. *विज्ञानभैरव* : व्याख्याकार, व्रजवल्लभ द्विवेदी, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, संस्करण, 1978
3. *शिवसूत्रम्* : टीकाचतुष्टयोपेतम्, पाठक, शुद्धानन्द, अभिषेक प्रकाशन, नवदेहली, संस्करण, 2007
4. *तन्त्रसारम्* : अभिनवगुप्त, राजानक,जयरथ (व्या.) शास्त्री, मधुसूदन कौल, श्रीनगर, काश्मीर सीरिज आफ टेक्स्ट्स एण्ड स्टडीज -1918
5. *परमार्थसार* : अभिनवगुप्त, सं.द्विवेदी, कमला, मोतीलाल बनारसीदास, नव देहली-1984
6. *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* : क्षेमराज, सिंह, जयदेव, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली- 1963
7. *काश्मीरीय शैवदर्शन एवं स्पन्दशास्त्र* : द्विवेदी, श्यामकान्त, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2009

सन्दर्भ

1. *विज्ञानभैरव*, कारिका - 162
2. *विज्ञानभैरव*, कारिका - 7
3. *क्षेमराज विवृति* में वर्णित
4. *विज्ञानभैरव*, कारिका - 130
5. *विज्ञानभैरव*, कारिका - 2,3,4,5
6. तत्त्वतो च नवात्माऽसौ शब्दराशिर्न भैरव: । न वासौ त्रिशिरा वेदो न च शक्तित्रयात्मक:।। नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधिका:। न चक्रमसंभिन्नो न च शक्तिस्वरूपक:॥ *विज्ञानभैरव*, कारिका - 10, 11, 12 ,
7. *विज्ञानभैरव*, कारिका - 14-15
8. *विज्ञानभैरव*, कारिका - 17

9. "दिक्कालकलनोन्मुक्ता देशोद्देशविशेषिणि। व्यपदेष्टुमशक्यासावकथ्या परमार्थत:"।।
अन्त: स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा। यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मन:"।। *विज्ञानभैरव*, कारिका - 18
10. शक्तिशक्तिमतोर्यद्वत् अभेद: सर्वदा स्थित:। अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्ति: परात्मन:॥ *विज्ञानभैरव*, कारिका, 19
11. तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवी मुखमिहोच्यते॥ *विज्ञानभैरव*, कारिका, 20
12. *विज्ञानभैरव*, कारिका, 24
13. *विज्ञानभैरव*, कारिका 24, शिवोपाध्याय विवृत्ति
14. क्रमद्वादशकं सम्यग् द्वादशाक्षरभेदितम्।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थितयो मुक्त्वा मुक्त्वान्तत: शिव:॥ —*विज्ञानभैरव*, कारिका 30
15. विज्ञानभैरव, कारिका – 42
16. *विज्ञानभैरव*, कारिका, 42 , शिवोपाध्यायवृत्ति, पृ० 36
17. *विज्ञानभैरव*, शिवोपाध्याय वृत्ति, पृ० 37
18 . *विज्ञानभैरव*, कारिका, 90
19 . नादबिन्द्वात्मकं यच्च सा शक्तिरैश्च स्मृता।
द्वयमेतत्समाख्यातं बीजभूतं चराचरे॥ *विज्ञानभैरव*, शिवोपाध्याय विवृत्ति, पृ० 74,
20. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, मगलाचरण में वर्णित
21. वर्णस्य सविसर्गस्य विसर्गान्तं चितिं कुरु।
निराधारेण चित्तेन स्पृशेद् ब्रह्म सनातनम्॥ *विज्ञानभैरव*, कारिका, 91,
22. अकुलस्य परा येयं कौलिकी शक्तिरुत्तमा।
स एवायं विसर्गस्तु तस्माज्जातमिदं जगत् । *विज्ञानभैरव*, कारिका, 91, शिवोपाध्याय विवृत्ति, पृ० – 78,
23. *विज्ञानभैरव*, कारिका, पूर्वोक्त
24. *विज्ञानभैरव*, कारिका, 109
25. *विज्ञानभैरव*, कारिका, 130
26. *शिवसूत्र*, प्रथम उन्मेष, सूत्र, 3

सहायक प्रोफेसर
संस्कृत विभाग, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा (महाराष्ट्र)
8053223488

कुण्डलिनी मन्त्र विधि एवं स्तुति विमर्श

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

श्रीविद्यार्णव पञ्चश्वास (पृ. 91) के अनुसार साधक को श्री विद्या साधना में गुरु वन्दना के पश्चात् कुण्डलीरूपा परासंविद् का चिन्तन करना अनिवार्य है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक विलास करने वाली विद्युत् लता की आकृति के समान तेजोमयी तरुणारूप पिंजरे में जलती हुई कुण्डली सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान है उसे मूल मन्त्र के 10 बार जप करने के पश्चात् ध्यान करना चाहिए। मूलाधार के चतुर्दल कमल के मध्य त्रिकोण पीठ पर स्थित ज्योतिर्लिङ्ग को साढ़े तीन चक्कर लगाकर घेरे हुए सुप्त कुण्डलिनी को 'हूँ' बीज से जगाना चाहिये। यहाँ त्र्यक्षरी बीजमन्त्र का न्यास किया जाता है। वाग्भव, भुवनेश्वरी तथा श्रीबीज तीन अक्षर वाला कुण्डलिनी मन्त्र है। इसका विनियोग एवं न्यास कर चिन्तन करना चाहिये। यह त्रितारी मन्त्र कहा जाता है।

कुण्डलिनी-मन्त्रजप-विधिः

नियमितपवनस्पन्दो मूलाधारे चतुर्दलपद्मे त्रिकोणात्मकं पीठस्थित-ज्योतिर्लिङ्गमावेष्ट्यावस्थितां सार्धत्रिवलयां 'हूं' बीजेनोत्थितां 'ऐं ह्रीं श्रीं' इति मन्त्रं च जपन् कुण्डलिनीं ध्यायेत्।

वाग्भवं भुवनेशी च श्रीबीजन्तु तथैव च ।
त्र्यक्षरो मन्त्र आख्यातः कुण्डलिन्यास्सुसिद्धिदः।। १।।
ऋषिश्शक्तिस्समाख्यातो गायत्रीच्छन्द ईरितम्।
चेतनाकुण्डली शक्तिर्देवतात्र समीरिता।। २।।
वाग्भवं बीजमाम्नातं शक्तिः श्रीबीजमुच्यते।
हृल्लेखा कीलकं प्रोक्तं कुण्डलिन्यास्तु चिन्तने।। ३।।
विनियोगस्समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ।
बीजत्रयद्विरावृत्त्या षडङ्गन्यास ईरितः।। ४।।
ध्यानं वक्ष्यामि कुण्डल्यास्सावधानतया शृणु।
मूलाधारे त्रिकोणे तु सूर्यकोटिसमत्विषि।। ५।।
प्रसुप्तभुजगाकारां सार्धत्रिवलयस्थिताम् ।
नीवारशुकवत्तन्वीं तडित्कोटिसमप्रभाम् ।। ६।।
सूर्यकोटिप्रभां दीप्तां चन्द्रकोटिसुशीतलाम्।
शिवशक्तिमयीं देवीं शङ्खावर्तक्रमात्स्थिताम्।। ७।।
सुषुम्नामध्यमार्गेण यान्तीं परशिवावधि।
ह्रीङ्कारबीजरूपेण चिन्तयेद् योगवर्त्मना ।। ८।।

कुण्डलिनी का ध्यान इस प्रकार करें—मूलाधार त्रिकोण में सार्धत्रिवलया, प्रसुप्त सर्पाकार, धान्य के अङ्कुर के समान सूक्ष्म रूप, कोटि-कोटि विद्युत एवं सूर्य के समान प्रदीप्तप्रभा युक्त, चन्द्रकोटिसमान सुशीतल, शिवशक्तिमयी, सुषुम्नामार्ग से षट्चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र में जाकर शिव सामरस्य समन्वित है। इस प्रकार ह्रींकार बीज मन्त्र के योग से चिन्तन करें।

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुर-
त्तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम्।
पाणिभ्यामलिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं
सौम्यां रत्नघटस्थसव्यचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम्।।

वाणीस्वरूपा परा भगवती सिन्दूर के समान अरुण स्वरूपा है। इसके त्रिनेत्र है। मस्तकमें माणिक्य तथा चन्द्रमा शिखर में द्योतित है। प्रसन्नमुखी उन्नत वक्षस्थल वाली माँ परा भगवती अपने एक हाथ में मण्डराते हुए भ्रमर से विभूषित रत्नों से निर्मित चषक प्याला है तथा दूसरे हाथ में लाल कमल है। ऐसी सौम्य स्वरूपा रत्न के घट पर दाहिना पैर रखी हुई परा अम्बिका का ध्यान करना चाहिए।

॥ कुण्डलिनीस्तुति॥ (शारदा-तिलक)

मूलोन्निद्रभुजङ्गराजसदृशीं यान्तीं सुषुम्नान्तरं,
भित्त्वाधारसमूहमाशुविलसत्सौदामिनीसन्निभाम् ।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद्दिव्यामृतौघैः पतिं,
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां सञ्चिन्तयेत् कुण्डलीम्।। 1।।
हंसं नित्यमनन्तमद्वयगुणं स्वाधारतो निर्गता,
शक्तिः कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम्।।
याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूय स्वयं,
यान्ती स्वाश्रममर्ककोटिरुचिरा ध्येया जगन्मोहिनी ।। 2।।
अव्यक्तं परबिम्बमञ्चितरुचिं नीत्वा शिवस्यालयं,
शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा ।
आनन्दामृतकन्दगं पुरभिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभं,
संवीक्ष्य स्वगृहं गता भगवती ध्येयाऽनवद्या गुणैः।। 3।।
मध्ये वर्त्म समीरणद्वयमिथस्सङ्घट्टसङ्क्षोभजं,
शब्दस्तोममतीत्य तेजसि तडित्कोटिप्रभाभास्वरे ।
उद्यन्तीं समुपास्महे नवजपासिन्दूरसान्द्रारुणां,
सान्द्रानन्दसुधामयीं परशिवं प्राप्तां परां देवताम्।। 4।।
गमनागमनेषु जाङ्घिकी सा तनुयाद् योगफलानि कुण्डली।
मुदिता कुलकामधेनुरेषा भजतां वाञ्छितकल्पवल्लरी।। 5।।

आधारस्थितशक्तिबिन्दुनिलयां नीवारशूकोपमां,
नित्यानन्दमयीं गलत्परसुधावर्षैः प्रबोधप्रदैः।
सिक्त्वा षट्सरसीरुहाणि विधिवत्कोदण्डमध्योदितां,
ध्यायेद् भास्वरबन्धुजीवरुचिरां संविन्मयीं देवताम्।। 6।।
हृत्पङ्केरुहभानुबिम्बनिलयां विद्युल्लतामन्थरां,
बालार्कारुणतेजसां भगवती निर्भर्त्सयन्तीं तमः।
नादाख्यां पदमर्धचन्द्रकुटिलां संविन्मयीं शाश्वतीं,
यान्तीमक्षररूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद् विभुं तेजसाम्।। 7।।
भाले पूर्णनिशाकरप्रतिभटां नीहारहारत्विषा,
सिञ्चन्तीममृतेन देवममितेनानन्दयन्तीं तनुम् ।
वर्णानां जननीं तदीयवपुषा संव्याप्य विश्वं स्थितां,
ध्यायेत् सम्यगनाकुलेन मनसा संविन्मयीमम्बिकाम् ।। 8।।
मूले भाले हृदि च विलसद्वर्णरूपा सवित्री,
पीनोत्तुङ्गस्तनभरनमन्मध्यदेशा महेशी ।
चक्रे चक्रे गलितसुधया सिक्तगात्री प्रकामं,
दद्यादद्य श्रियमविकलां वाङ्मयी देवता नः ।। 9।।

मूलाधार में उन्निद्र जाग्रत् सर्पराज के सदृश सुषुम्ना में प्रवेश करती हुई, षट्चक्रों का भेदन करती हुई, सौदामिनी विद्युत के समान सहस्रार में इन्दुमण्डल से गलित दिव्यामृत से शिव को सम्भावित करके पुनः अपने गृह मूलाधार में आ गयी। ऐसी कुण्डलिनी का चिन्तन करें।।1।।

मूलाधार से सुषुम्ना मार्ग में जाती हुई कुण्डलिनी शक्ति हृदय में स्थित हंस, नित्य, अनन्त अद्वयगुण जीवात्मा को ग्रहण करती हुर्ह समस्त जगत् की जननी, शम्भुनिकेतन (सहस्रार) में जाकर वहाँ शिव के सामरस्य से परमसुख का अनुभव करके सूर्यकोटिसदृश दिव्य जगन्मोहिनी अपने आश्रय मूलाधार में आ जाती हैं। ऐसी भगवती कुण्डलिनी का चिन्तन करे।।2।।

अव्यक्त जीवतत्त्व ब्रह्म-अंश को सहस्रार (शिवस्थान) में ले जाकर सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणों वाली सार्धत्रिवलय (साढ़े तीन घेरा इसमें तीन वलय तीनों गुण हैं और आधा—जीवात्मा है।) इसी को सार्धत्रिवलय कहते हैं। यही परमात्मा और यही जीवात्मा है। परन्तु परमात्मा की विशेषता यह है कि इनके तीनों गुण सक्रिय हैं, अतः वे संकल्प मात्र से इस विचित्र विश्व का निर्माण करते हैं। जीवात्मा में त्रिगुण त्रिवलय तो हैं, परन्तु सक्रिय नहीं हैं। कुण्डलिनी जागृत् हो जाती है, तो वह जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग कराती है।) उस जीवात्मा को लेकर सहस्रार में जाती है, वहाँ पर तीन गुण वाली विद्युत् लता के समान कुण्डलिनी शक्ति शिव के साथ सामरस्य करती है तो जीवात्मा का भी शिवत्व भाव हो जाता है।।3।।

ऊपर के दो श्लोकों में कुण्डलिनी के गमनागमन का वर्णन किया गया है। इसमें कुण्डलिनी के जागरण से शिवत्वप्राप्ति का वर्णन किया गया है। शिव का लोक आनन्दामृत है तथा कोटि चन्द्र एवं सूर्य के समान है।

अब प्राणापानसमीरणसंघट्ट के संक्षोभ से शब्दराशि का (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी) अतिक्रमण कर पुनः कुण्डलिनी वापिस आती है। वह करोड़ों बिजली के प्रभामय तेज में अवस्थित नवजपाकुसुम के समान सान्द्र अरुणवर्ण, आनन्द-संदोह से सुधामयी परशिव को प्राप्त, अर्थात् शिवसामरस्य को प्राप्त कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि कुण्डलिनी सहस्रार में जाती है, (सहस्रार में कुण्डलिनी का ध्यान करने से समाधि-अवस्था प्राप्त हो जाती है।)।।4।।

इस प्रकार प्रथम दो श्लोकों में कुण्डलिनी के मूलाधार से सहस्रार तक और सहस्रार से मूलाधार तक के गमनागमन का वर्णन कर रहे हैं—वह जाङ्घिकी कुण्डलिनीशक्ति गमनागमन द्वारा योगफल प्रदान करे। जो इस प्रकार भावना करता है, उसके मनोरथों को कुण्डलिनी प्रसन्न होकर कामधेनु और कल्पलता के समान पूर्ण करती है।।5।।

अब अग्निकुण्डलिनी, प्राण (सूर्य) कुण्डलिनी और चन्द्रकुण्डलिनी इन तीन कुण्डलिनियों का वर्णन कर रहे हैं। वैसे प्रति चक्र में अपनी कुण्डलिनी शक्ति अवश्य होती है।

अग्निकुण्डलिनी—सर्वप्रथम अग्निकुण्डलिनी का वर्णन कर रहे हैं—मूलाधार के त्रिकोण में स्थित शक्ति बिन्दु में विराजमान नीवार (धान्य) के अंकुर के समान अतिसूक्ष्म, नित्य आनन्द देने वाली, बोध प्रदान करने वाली, पर सुधा की वर्षा से 'पद्म' षट्चक्रों का सिञ्चित करती हुई मेरुदण्ड से जाकर कोदण्ड भ्रूमध्य के मध्य में उदित हुई, बन्धुजीव पुष्प के समान लाल वर्ण की देवता का ध्यान करना चाहिए। यह अग्निकुण्डलिनी का ध्यान है।।6।।

प्राण (सूर्य) कुण्डलिनी—हृदयकमल में द्वादशदल के अनाहतचक्र में सूर्यबिम्ब में निवास करने वाली स्थिर विद्युल्लता सदृशी, बालसूर्य के समान अरुण वर्ण से हृदय के अन्धकार को दूर करती हुई, अनाहत नादमयी, ज्ञानमयी, शाश्वतरूपिणी तथा अक्षररूपिणी (अनाहत नाद में गुरुदत्त पिण्ड मन्त्र का नाद होता है, इसे अनाहत नाद कहते हैं।) इसीलिए इसको अक्षररूपी कहा है। समस्त तेजों की अधिष्ठात्री भगवती का शुद्धबुद्धि साधक को इस प्रकार ध्यान करना चाहिए। यह सूर्यकुण्डलिनी का वर्णन है।।7।।

चन्द्रकुण्डलिनी—भाल (आज्ञाचक्र) में पूर्ण चन्द्र के समान देदीप्यमान नीहार (कुहासा) को तिरस्कृत करने वाली, कान्ति से युक्त अमृत से भगवान् शिव का सिञ्चन करने वाली, शरीर को आनन्द देने वाली, वर्णों की जननी एवं शब्दराशि से समुद्भूत विश्वव्यापिनी, संविन्मयी अम्बिका भगवती का अनाकुलता (एकाग्रचित्त) से ध्यान करना चाहिए।।8।।

तीनों कुण्डलिनियों का एक साथ वर्णन करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं—मूलाधार, हृदय और आज्ञाचक्र में वर्णों को रूप प्रदान करने वाली, पीन और उत्तुङ्ग स्तन के भार से नमितमध्यप्रदेशा महेशी, प्रतिचक्र को सुधा से सिञ्चित करती हुई वाङ्मयी देवता हमें अविकल श्री, शोभा, ऐश्वर्य प्रदान करें।।9।।

आधारबन्धप्रमुखक्रियाभिः, समुत्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः।
त्रिधामबीजं शिवमर्चयन्ती, शिवाङ्गना नः शिवमातनोतु।। 10।।
निजभवननिवासादुच्चलन्ती विलासैः,
पथि पथि कमलानां चारु हासं विधाय।

तरुणतपनकान्तिः कुण्डली देवता सा,
शिवसदनसुधाभिर्दीपयेदात्मतेजः ।। 11।।
सिन्दूरपुञ्जनिभमिन्दुकलावतंस-
मानन्दपूर्णनयनत्रयशोभिवक्त्रम् ।
आपीनतुङ्गकुचनम्रमनङ्गतन्त्रं
शम्भोः कलत्रममितां श्रियमातनोतु।। 12।।
वर्णैरर्णवषड्दिशारविकलाचक्षुर्विभक्तैः क्रमात्,
सान्तैरादिभिरावृतान् क्षहयुतैष्षट्चक्रमध्यानिमान् ।
डाकिन्यादिभिराश्रितान् परिचितान् ब्रह्मादिभिर्दैवतै-
र्भिन्दाना परदेवता त्रिजगतां चित्तेषु दत्तां मुदम्।। 13।।
आधाराद् गुणवृत्तशोभिततनुं निर्गत्वरीं सत्वरं,
भिन्दन्तीं कमलानि चिन्मयघनानन्दप्रबोधोद्धुराम्।
सङ्क्षुब्धं ध्रुवमण्डलामृतकरप्रस्यन्दमानामृत-
स्रोतःकन्दलितामम्दतडिदाकारां शिवां भावये ।। 14।।
मूलाधारे त्रिकोणे तरुणतरणिभाभास्वरे विभ्रमन्तं,
कामं बालार्ककालानलजरठकुरङ्गाङ्ककोटिप्रभाभम् ।
विद्युन्मालासहस्रद्युतिरुचिरलसद्बन्धुजीवाभिरामं,
त्रैगुण्याक्रान्तबिन्दुं जगदुदयलयैकान्तहेतुं विचिन्त्य ।। 15।।
तस्योर्ध्वे विस्फुरन्तीं स्फुटरुचिरतडित्पुञ्जभाभास्वराङ्गी-
मुद्गच्छतीं सुषुम्नामनुसरणिशिखामाललाटेन्दुबिम्बम्।
चिन्मात्रां सूक्ष्मरूपां जगदुदयकरीं भावनामात्रगम्यां,
मूलं या सर्वधाम्नां स्फुरति निरुपमा हूङ्कृतोदञ्चितोरः।। 16।।
नीता सा शनकैरधोमुखसहस्रारारुणाब्जोदरे,
च्योतत्पूर्णशशाङ्कबिम्बमधुनः पीयूषधारास्रुतिम्।
रक्तां मन्त्रमयीं निपीय च सुधानिःष्यन्दरूपा विशेद्,
भूयोऽप्यात्मनिकेतनं पुनरपि प्रोत्थाय पीत्वा विशेत्।। 17।।
योऽभ्यस्यत्यनुदिनमेवमात्मनोऽन्तर्बीजांशं दुरितजरापमृत्युरोगान्।
जित्वाऽसौ स्वयमिव मूर्तिमाननङ्गः, सञ्जीवेच्चिरमतिनीलकेशजालः।।18।।

कुण्डलिनी के उत्थान की प्रक्रिया—आधारबन्ध सिद्धान्त ही जिसमें मुख्य क्रिया है। सिद्धासन में पैर की एड़ी से मूलाधार का आच्छादन होता है। यही आधारबन्ध क्रिया है। इसी मूलबन्ध से कुण्डलिनी जागृत हो करके अमृतवर्षा से त्रिधाम के (अग्निमण्डल, सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल) बीज शिव की अर्चना करती हुई शिवाङ्गना रूपी कुण्डलिनी हमारा, आपका श्रीप्रदान कर कल्याण करें।।10।।

निजभवन मूलाधार से ऊर्ध्वगमन करती हुई कुण्डलिनी शक्ति स्वप्रभाव से मेरुदण्डस्थित षट्चक्र विकसित करके, तरुण सूर्य के समान कान्ति वाली कुण्डलिनी देवता शिवसदन सहस्रार से गलित अमृत से आत्मतेज को दीप्त करे।।11।।

सिन्दूरपुञ्ज के समान लालवर्ण एवं चन्द्रकलाविभूषित भालप्रदेश, आनन्दपूर्ण त्रिनेत्रों से शोभायमान मुखकमल, पीन और उत्तुङ्ग कुच से नम्र तथा अनङ्गतन्त्र (कामप्रधान), ऐसी भगवान् शिव की कलत्र स्त्री अपरिमित श्री अर्थात् कल्याण की वृष्टि करें।।12।।

अब षट्चक्रों का वर्णन, डाकिन्यादि देवता एवं दलों की संख्या का वर्णन—चार, छः, दश, बारह, सोलह और दो, इस प्रकार मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त छः चक्र हैं। मूलाधार में चार दल और चार अक्षर वं शं षं सं से युक्त, इसी प्रकार स्वाधिष्ठान में 6 दल, छः अक्षर, हृदय में अनाहत चक्र बारह दल, उसमें बारह अक्षर, कण्ठ में विशुद्धि चक्र सोलह दल और सोलह अक्षर युक्त, आज्ञा चक्र में दो दल, हं क्षं दो अक्षरों से युक्त। (षट्चक्रों की षट् शक्तियाँ हैं—मूलाधार में साकिनी, स्वाधिष्ठान में काकिनी, मणिपूरक में लाकिनी, अनाहत में शाकिनी, विशुद्धि में डाकिनी, आज्ञाचक्र में हाकिनी। इन शक्तियों से आवृत्त हैं षट्चक्रों में स्थित देवता—मूलाधार में गणेश, स्वाधिष्ठान में ब्रह्मा, मणिपूरक में विष्णु, अनाहत में शिव, विशुद्धि चक्र में जीवात्मा, आज्ञाचक्र में परमात्मा ऐसे षट्चक्रों का भेदन करती हुई परदेवता त्रिभुवन के प्राणियों के चित्त में आनन्द प्रदान करें।।13।।

शारदा तिलक की उपलब्ध प्रतियों में यहीं तक स्तुति प्राप्त होती है। इसके बाद के श्लोक हो सकता है श्रीविद्यार्णवकार विचारण्य हो सकते हैं। इनमें आठ श्लोक में ध्यान का स्वरूप है।

मूलाधार में गुणवृत्त (सत्त्व, रज, तम) से सुशोभित शरीरवाली मूलाधार से शीघ्र गमन करती हुई षट्चक्रों का भेदन करती हुई, चिन्मय आनन्द से प्रबोध प्रदान करने वाली, गमन से संक्षुब्ध, चन्द्रमण्डल से प्रस्यन्दमान, अमृतस्रोत से कन्दलित (युक्त) विद्युत् के समान भगवती शिवा की भावना मैं करता हूँ।।14।।

मूलाधार के त्रिकोण में बिन्दुचिन्तन का वर्णन कर रहे हैं—वह बिन्दु बालसूर्य के समान अरुण वर्ण वाला त्रिकोण में है। उस त्रिकोण में बाल सूर्य, अग्नि और चन्द्र की कोटि प्रभा से प्रभासित, विद्युत की सहस्रमाला के समान, बन्धूकपुष्प के समान रुचिर, त्रैगुण्य से आक्रान्त, जगत् की रचना एवं लय का हेतु—भूत बिन्दु का चिन्तन करे।।15।।

उस बिन्दु के ऊपर कुण्डलिनी शक्ति का और विस्फुरित स्फुट और सुन्दर विद्युत्पुञ्ज के समान और सुषुम्ना मार्ग से ललाट बिन्दु तक गमन करती हुई कुण्डलिनी का ध्यान करें। चिन्मात्र, सूक्ष्मरूपवाली, सृष्टि की रचना करने वाली, भावनामात्र से गम्य, समस्त तेजों की मूलभूत, उपमारहित, हूँकार में पाँच प्रणव के उच्चारण से वक्ष को उदञ्चित करके कुण्डलिनी सहस्रार में प्रवेश करती है। यह गुरुमुख से जानने की विद्या है, हूँकार में पञ्चप्रणव का उच्चारण होता है। इसकी विधि *स्वच्छन्दतन्त्र* में वर्णित है।।16।।

इस प्रकार हूँकार करके अधःसहस्रार से ऊर्ध्वसहस्रार में धीरे से कुण्डलिनी शक्ति को ले जायें। वहाँ चन्द्रबिन्दु से निःसृत अमृतधारा का च्यवन करती हुई रक्तवर्ण वाली, मन्त्रमयी (मन्त्रमयी का तात्पर्य है कि कुण्डलिनी शक्ति अतिसूक्ष्म है, वह भावनामात्रगम्य है। यदि उसको मन्त्र का रूप दे दिया जाय तो शीघ्र अनुभूति होती है। **पञ्चदशाक्षरी मन्त्र सात करोड़ मन्त्रों का सार है।** यदि इसका विधिवत् जप किया जाय

अर्थात् मूलाधार से अनाहत तक, अनाहत से आज्ञाचक्र, आज्ञाचक्र से सहस्रार। इस प्रकार तीन कूटों का ध्यान करके जप करने से कुण्डलिनी जागरण की अनुभूति होने लगती है; इसीलिए मन्त्रमयी कहा गया है।) ऐसी भावना करके, सहस्रार से अमृतबिन्दु की वर्षा करती हुई भगवती पुनः मूलाधार में आ गयी, ऐसी भावना करें। पुनः मूलाधार से सहस्रार में पुनः सहस्रार से मूलाधार इस प्रकार **पुनः पुनः क्रियात्मक भावना ही गमनागमन क्रिया कहलाती है।।17।।**

कुण्डलिनी की गमनागमनभावना का फल—इस प्रकार अपने अन्तर में समस्त मूलभूतों के भी मूलभूत साधन उपर्युक्त गमनागमनप्रक्रिया का प्रतिदिन अभ्यास करता है, वह साधक पाप, जरा, अपमृत्यु तथा रोग रहित हो, मूर्तिमान् कामदेव जैसा सुन्दर, नीलकेश एवं चिरञ्जीवी हो जाता है।।18।।

अगले श्लोक 9-18 स्तुति भाग प्राप्त होता है। यहाँ ध्यातव्य है श्रीविद्या के दक्षिणाचार में यही विधि आवश्यक मानी गई है। यह विधि संक्षिप्त है। इसे करने में साधक का सुषुम्णा मार्ग विकसित होती है। श्रीविद्या के कौल मार्ग या वाम वार्म की साधना में कुण्डलिनी का विस्तृत साधना सम्प्राप्त होती है। रुद्रयामल उत्तर तन्त्र में इसकी विशद् चर्चा है। षट्चक्र की साधना का वर्णन 29 पटल से प्रारम्भ होता है। तीसरे पटल में मूलाधार में डाकिनी एवं ब्रह्मा की साधना करनी होती है स्तोत्र (29-30) तक है जिसे डाकिनी स्तोत्र कहा जाता है। इक्तीसवे पटल में भेदिनी स्तोत्र 8-18 एवं छेदिनी स्तव 24-46 तक है। 32वें पटल में कुण्डलिनी स्तोत्र 21-31 तक है। 33वें पटल में कुण्डलिनी कवच 34वें पटल में नेति, दति, नेउली, उदर चालन एवं छालन—पञ्चयोग कुण्डलिनी हेतु बताये गये हैं। 36वें पटल में कुण्डली सहस्रनाम तथा 37-39 पटल में कृष्ण एवं राकिणी का स्तव, कवच आदि का वर्णन है। रुद्रयामल में विस्तृत रूप में कुण्डलिनी के चक्रों की आराधना, स्तोत्र, मन्त्र कवचादि प्राप्त होते हैं। विशेषत यह विशाल शास्त्रीय प्रतिपादन कौलमार्ग से समर्थित है। अत: अभी इसका विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है।

55 गोविन्द नगर,
वैशाली नगर, जयपुर-302021

श्रीमद्भगवद्गीताविज्ञानभाष्य : नूतन वैचारिक प्रतिमान

प्रो. सरोज कौशल

प्रस्थानत्रयी के हृदय के रूप में प्रतिष्ठित भक्ति, ज्ञान और कर्म की पावन त्रिवेणी, 'भग' सम्पत्ति को प्राप्त कराने वाली 'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्' मन्वादिस्मृतियों के समान केवल विधिनिषेधात्मक शास्त्र न होकर श्रुति के समान अपने रहस्यज्ञान का प्रतिपादन करती है। यतोहि गीता से भगवत्प्राप्ति होती है, इसलिए यह 'भगवत्' है, शब्दवाक् होने से यह 'गीता' है तथा रहस्य की प्रतिपादिका होने से यह 'उपनिषद्' है। इस प्रकार 'भगवद्गीतोपनिषद्' नाम का निष्कर्ष है—'भगवत्याप्त्युपायभूतशब्दवाङ्मयरहस्यशास्त्र'।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट ज्ञानामृतप्रवर्षिणी सर्वशास्त्रमयी 'भगवद्गीता' अपने सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक महत्त्व के कारण अनेक व्याख्या एवं भाष्यग्रन्थों से युक्त होने पर भी पण्डित मधुसूदन ओझा कृत विलक्षण 'गीताविज्ञानभाष्य' से सुवर्णसौरभसम्पृक्त सी हो गयी है।

पं. मधुसूदन ओझा ने परम्परा-प्राप्त अनेक ग्रन्थों पर भाष्य-लेखन किया। प्रायः सर्वत्र उस भाष्य को विज्ञानभाष्य के नाम से अभिहित किया। इस शृङ्खला में भारतीय साहित्य के सर्वाधिक प्रचलित ग्रन्थ *श्रीमद्भगवद्गीता* का भाष्य करते हुए पं. ओझा ने यह प्रतिपादित किया कि वस्तुतः गीता ब्रह्म और कर्म का वैज्ञानिक शास्त्र है, अतः जो वैज्ञानिक विषय-विभाग के जिज्ञासु हैं उनके लिए इस गीता में 4 विद्यायें, 24 उपनिषद् तथा 160 उपदेश हैं।

यत्र चतस्रो विधा उपनिषदो विंशतिश्चतस्रश्च।
उपदेशाः षष्टिशतं सेयं गीतानुगीयतामनिशम्।। – *श्रीमद्भगवद्गीता विज्ञानभाष्यम्*, पृ. 1

पं. ओझा का गीताविज्ञानभाष्य अन्य टीकाकारों और भाष्यकारों के भाष्य के समान प्रतिपद तथा प्रतिश्लोक पर क्रमशः टिप्पण नहीं है। अवधारणाओं की सविस्तर व्याख्या ही इस विज्ञानभाष्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। गीता के पद्यों के पद-पदार्थ के बिना ही उसका मर्म समझने की व्यापक एवं गम्भीर दृष्टि ओझाजी ने दी है, जो शाश्वत है।

वैदिक तत्त्ववाद को आधार बनाकर पण्डित ओझा द्वारा रचित यह ग्रन्थ रहस्यकाण्ड, शीर्षककाण्ड एवं आचार्यकाण्ड नामक तीन काण्डों में उपलब्ध है इनमें प्रथम रहस्यकाण्ड में पं. ओझा ने यह स्पष्ट किया कि जिन वैज्ञानिक तत्त्वों को आधार बनाकर भगवान् कृष्ण ने उपदेश दिया था वे सभी तत्त्व इतिहासदोष के कारण लुप्त हो गये हैं उन्हीं तत्त्वों को प्रस्तुत करना विज्ञानभाष्य का उद्देश्य है।

गीताविज्ञानभाष्य के चार काण्डों में से प्रथम है—रहस्यकाण्ड। इसमें गीतानामरहस्य, गीताशास्त्ररहस्य तथा गीताविषयरहस्य, विभागोपविभागपूर्वक ग्रथित है।

पं. ओझा ने भगवत् शब्द समीक्षा करते हुए कहा—छः भगों का जिसमें अव्यय पाया जाता है—वह भगवान् कहलाता है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा।।

स्मृतिशास्त्र में भगवान् का एक पृथक् लक्षण प्राप्त होता है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।। — *गीताविज्ञानभाष्य,* पृ. 8

जो उत्पत्ति तथा प्रलय को, प्राणियों की आगति (आने के मूल) और गति (जाने के स्थल) को तथा विद्या और अविद्या को जानता है, वह भगवान् कहा जाना चाहिए।

गीता शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? इसके प्रसङ्ग में कहा गया—श्रौतोपनिषद् में संक्षेप से कही गई अव्ययविद्या की विशद रूप से स्पष्ट प्रतीति के लिए भगवान् के द्वारा गायी हुई होने से यह उपनिषद् अथवा ब्रह्मविद्या अथवा बुद्धियोगनिष्ठा गीता शब्द से व्यपदेश्य होती है। गीताशास्त्र स्मार्तोपनिषद् के अर्थ में रूढ़ हो गया।

पूर्वं केनाप्युपदिष्टस्यार्थस्य पुनरुपदेशो गानम्।— *गीताविज्ञानभाष्य,* पृ. 15

गीता में कृष्ण मानुषस्वरूप तथा अव्यय हैं। उन दोनों स्वरूपों में से अव्यय कृष्ण गीता में बाहुल्येन वर्णित हैं, कहीं अहं शब्द के द्वारा मनुज कृष्ण उक्त हैं। (*गीताविज्ञानभाष्य,* पृ.31)

मानुषस्वरूप कृष्ण ने अव्यय कृष्ण का स्वरूप बताने के लिए चार प्रकार की विद्याओं का उपदेश दिया था, वह चतुर्विधा विद्योपदेश ही यह गीता कहलाती है।

ओझाजी ने श्रीकृष्ण में मनुष्यत्व तथा ईश्वरत्व दोनों की उद्भावना की है। ईश्वरत्व के कारण लोकोत्तर चरित और मनुष्यत्व के कारण मनुष्य की तरह लोकोन्मुख कर्म। विज्ञानभाष्य के बिना गीता का हृदय प्रकट नहीं हो सकता है। प्रथम प्रकाश में पं. ओझा ने अनुबन्ध-चतुष्टय का विशद निरूपण किया है।

भगवद्गीता में वर्णित विषयों के विभागों पर पं. ओझा विचार करते हैं। सर्वप्रथम वे 'आत्मशिक्षा' की व्याख्या करते हैं।

1. वह अव्यय एक ईश्वर तथा अनन्त जीवों में विद्यमान है। विभक्तों में अविभक्त यह विभक्त की तरह प्रतीत होता है। भगवद्गीता का यह वैशिष्ट्य है कि वह उस अव्यय को सबके आत्मस्वरूप से देखती है। अव्यय से अतिरिक्त तत्त्वों की आत्मस्वरूपता का वह निषेध करती है।

तमेतमव्ययं गीता सर्वमात्मत्वेन पश्यति।
अप्यव्ययातिरिक्तानामात्मत्वं प्रतिषेधति।। – *गीताविज्ञानभाष्य*, पृ. 60

2. आत्मधातुद्वय – इस अव्यय आत्मा के दो पर्व हैं—1. ब्रह्म, 2. कर्म। ब्रह्म विद्या है और कर्म वीर्य, ये दोनों आत्मरूप हैं। यह सिद्धान्त पं. ओझा ने अनेक ग्रन्थों में निरूपित किया है। ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही उनको अभीष्ट है और उनका यह अभिमत है कि भगवद्गीता का भी यही निष्कर्ष है। ज्ञान और कर्म में से कर्म तीन प्रकार का कहा गया—

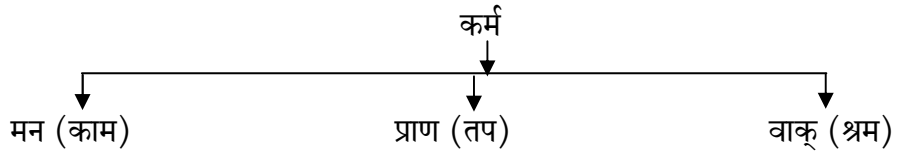

वाक् में अन्न, प्राण में क्रिया और मन में ज्ञान सम्बद्ध है। अन्न से जीवित रहता है, कर्म से विचरण करता है और विद्या से जानता है। 'धातुसाम्य' के अन्तर्गत पं. ओझा ने जिस निष्कर्ष की स्थापना की है वह वस्तुतः ध्यातव्य है—

ब्रह्मकर्मणोविद्यावीर्ययोऽत्मधात्वोः समीकरणसिद्धान्तस्थापनम्। — *गीताविज्ञानभाष्य*, पृ. 81

केवल कर्म अथवा केवल विद्या श्रेयस्कर नहीं है। *वाजसनेयोपनिषद्* भी ऐसा कथन करती है।

तस्मान्न केवलं कर्म न विद्या केवला श्रिये। — *गीताविज्ञानभाष्य*, पृ. 81

इसलिए आत्मा में विद्या (ब्रह्म) और वीर्य (कर्म) की समता की अपेक्षा होती है। जो लोग विद्यानिरपेक्ष कर्मों की उपासना करते हैं वे शुद्ध अविद्या के अनुशीलन के कारण घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। जो विद्यापरायण लोग नित्यकर्मों का त्याग कर देते हैं, वे विद्या और कर्म दोनों से भ्रष्ट होकर घोरतम अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

परस्परानपेक्षित्वं निषिद्धं कर्मविद्यया।
निर्विद्यकर्मणा नार्थो नार्थो निष्कर्मविद्यया।।

कर्म और विद्या की परस्पर अनपेक्षा निषिद्ध है। न तो विद्यारहित कर्म से प्रयोजन की सिद्धि होती है और न निष्कर्म विद्या से पं. ओझा का सिद्धान्त युगबोध का भी मर्म ज्ञापित करता है।

धातुसाम्य अर्थात् ब्रह्म और कर्म की साम्यावस्था से ही प्राणियों में शान्ति और सुख होता है, इसलिए धातुवैषम्य के कारण मनुष्य दुःख को प्राप्त होता है।

यद् ब्रह्म यत्कर्म तयोः समत्वं नयेति नः शिक्षयतीह गीता। — *गीताविज्ञानभाष्य*, पृ. 85

एक ओर परम्परा से प्राप्त टीकाओं में जहाँ कर्म-योग, ज्ञान-योग तथा भक्तियोग का प्रतिपादन किया गया है वहाँ पं. ओझा का यह प्रातिस्विक मत है कि गीता ब्रह्म तथा कर्म के समन्वय का अथवा साम्य की ही

प्रमुखता से शिक्षा प्रदान करती है यह बीसवीं शताब्दी में रचे गये भाष्य की विशिष्ट वैचारिकी है। कोई भी व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र ब्रह्म और कर्म के समन्वय से ही अभ्युदय के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

बुद्धियोग—पं. ओझा ने जिस बुद्धियोग का निरूपण किया है वह कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग में विचारित है।

1. दुःख का शमन तथा सुखरूपी भावी परिणाम – यह कर्मयोग का लक्षण है। यह कर्मयोग बुद्धियोग में भी व्याप्त है। आसक्तियुक्त कर्म से बुद्धियोग प्राप्त नहीं होता है।
2. निष्कर्मभाव ज्ञानयोग का लक्षण है, वह भी बुद्धियोग में व्याप्त है। वह ज्ञानयोग कर्म के सर्वथा त्याग से सिद्ध नहीं होता है। एकांगी दृष्टि का निषेध कर बुद्धियोग का विधान करना पं. ओझा का प्रमुख अवदान कहा जा सकता है।

गीता में पं. ओझा 'विद्याचतुष्टयी' को स्वीकार करते हैं।

1. प्रथम वैराग्यस्वरूपा राजर्षिविद्या है, जिसमें कर्म और ज्ञान का साम्य है। इस वैराग्यस्वरूपा विद्या का गीता में अनेकत्र निरूपण प्राप्त होता है।

ब्रह्मण्यादाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा। — *भगवद्गीता*, 5/10

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति का त्याग करके कर्म करता है, वह जल में कमलपत्र के समान पाप से लिप्त नहीं होता है।

2. **द्वितीया सिद्धविद्या सा कर्मसंन्यासलक्षणा।**
निर्गुणात्मज्ञानरूपा नात्यन्तं भगवत्प्रिया।। — *गीताविज्ञानभाष्यम्*, पृ. 97

कर्मपरित्यागस्वरूपा और निर्गुणात्मज्ञानरूपा वह विद्या भगवान् को अतिप्रिय नहीं है।

3. तृतीया राजविद्या है, इसमें ईश्वर की उपासना की जाती है। इसमें भक्ति, ज्ञान का कर्म है, और वह भगवान् को प्रिय भी है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।। — *गीता*, 12/17

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः।। — *गीता*, 12/14

4. जिसमें त्रिगुणात्मक कर्म से जन्य और कर्मकाण्ड का विषयभूत धर्म कहा गया है, वह चतुर्थ आर्षविद्या भी भगवान् को अत्यन्त प्रिय नहीं है।

बुद्धियोग के चार भेद हैं—

1. बुद्धियोग वैराग्यविद्या से ज्ञानयोगमय होता है। वह अनासक्ति तथा निष्कामकर्मयोग से परीक्षित है।
2. धर्मविद्या के कारण कर्मयोगमय बुद्धियोग भिन्न है। धर्मबुद्धि से किया गया योग त्रिगुणमय कर्मों से सहित होता है।
3. नैर्गुण्य, वेद के ज्ञानकाण्ड का विषय है। आत्मा के एकत्व की गति ज्ञान है।
4. ऐश्वर्यविद्या सगुणब्रह्मविद्या मानी जाती है, सगुणब्रह्मविद्या वह उपासना है, जिससे ईश्वर में स्थिति होती है।

योग की विशिष्ट व्याख्या –

पं. ओझा ने गीता के विशेष सन्दर्भ में योग की पृथक्रीत्या व्याख्या की है। विज्ञान नामक जो बुद्धि है, उसका अव्ययात्मा में जो योग होता है – वह योग के रूप में इष्ट है।

नारदपाञ्चरात्र में भगवान् नारद ने आत्मा में पाँच प्रकार के ज्ञान का कथन किया है–1. योगजन्य, 2. शुद्धचैतन्य, 3. सत्त्वजन्य, 4. बौद्ध (बुद्धिजन्य), 5. मानस। ये वस्तुतः ज्ञान के पाँच स्तर हैं। प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान की पृथक्-पृथक् स्थिति होती है।

इनमें प्रथम दो प्रकार का ज्ञान तो स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं होता है। जब भगवान् गीता के पञ्चदश अध्याय में कहते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।। — *गीता*, 15/12

विद्या और कर्म की परस्पर सापेक्षता

जिस प्रकार एक भाग में यदि मालिन्य होता है तो वह अन्य भाग को भी मलिन कर देता है उसी प्रकार विद्याभाग के मालिन्य के कारण पुरुष का कर्म भी अवसादयुक्त हो जाता है। ऐसा होने पर वह पूर्ण आनन्द को प्राप्त नहीं करता है।

अतः विद्या की निर्मलता ही कर्म में पूर्णता का आधान करने में सक्षम होती है। कर्म के कर्म के बिना विज्ञान कहीं भी प्रकट नहीं होता है। अतः कर्म का परित्याग न करते हुए विद्याभाग का उपार्जन करना, यही वरेण्य जीवनपद्धति है। कर्म और विद्या का समन्वय क्यों आवश्यक है? इसका समाधान भी ओझा जी करते हैं—

कर्मणा विद्यया चात्मा प्रव्यक्तः सुप्रसीदति।
विद्ययाऽऽनन्दमाप्नोति कर्मणा सर्वशक्तिमान्।।

विद्या से आनन्द को प्राप्त करता है और कर्म से सर्वशक्तिमान् हो जाता है।

गीता का समत्व योग

कर्म के समान विद्या भी आवरणरहित होनी चाहिए। विद्या और कर्म के साम्य के कारण आत्मा भी समवस्था को प्राप्त होवे। इस साम्य के कारण वह आत्मा विद्या और कर्म इन दो रूपों के साथ भासित होता है। यही बुद्धियोग है।

एतदेव तु गीतायां समत्वं योग उच्यते।
स योगो बुद्धियोगोऽयं गीतायामुपदिश्यते।

पं. ओझा की यह व्याख्या मूलगीता के साथ अन्वय को प्राप्त है।

गीता में पञ्चविध साम्यवाद

यहाँ साम्यवाद शब्द शास्त्रीय अवधारणा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है राजनैतिक अथवा सामाजिक अवधारणा के रूप में नहीं। गीता में पाँच प्रकार के साम्यवाद का अन्वेषण 'यत्र प्रकारोऽभिनवप्रकाशने' का निदर्शन है।

अनासक्तिरकामत्वं यज्ञार्थं चेश्वरार्पणम्।
जीवेश्वरैकात्म्यकृतमिति साम्यं तु पञ्चधा।।

1. अनासक्तिकृत साम्यवाद

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।। – 3/19
यस्तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन.....

ऐसे अनेक उदाहरण अनासक्तिकृत साम्यवाद के अन्तर्गत दिये गये हैं। परन्तु 'अनासक्ति साम्यवाद किसे कहते हैं' इस विषय में पं. ओझा ने कोई व्याख्या नहीं की है।

इस अनासक्ति साम्यवाद के विषय में यह कहा जा सकता है कि गीता में कर्म का निषेध नहीं है अपितु कर्म के फल के प्रति आसक्ति का निषेध है। अतः कर्म का आचरण और अनासक्ति का साम्य अथवा समन्वय ही अभीष्ट है और यही अनासक्तिकृत साम्यवाद है।

2. यज्ञार्थसाम्यवादोपदेश

आत्मा के लिए जो-जो कर्म किया जाता है, वह या है। 'इत्थं काखिलं यज्ञः स्वयमेवोपपद्यते' यह सम्पूर्ण कर्म स्वयं ही या के रूप में उपपन्न हो जाता है। अन्तरात्मा कर्म में नियुक्त होता हुआ यजन करता है और यज्ञ की भावना से कर्म करता हुआ वह लिप्त नहीं होता है।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कौन्तेय को यज्ञार्थ कर्म का महत्त्व बताते हैं।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग समाचर।। — *गीता*, 3/9

भगवद्गीता में निरूपित 'यज्ञ' एक विशद परिदृश्य को स्वयं में समाहित करता है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।

कतिपय पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करने वाले हैं, अन्य तपस्यारूप यज्ञ करने वाले हैं, कुछ योगरूप यज्ञकर्ता हैं। कुछ स्वाध्याययज्ञ करते हैं और शास्त्रार्थपरिज्ञान जिनका यज्ञ है, वे ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ का केवल एक ही अर्थ नहीं है कि अग्नि में हवि प्रदान करना, अपितु तपस्या रूप यज्ञ, योगरूप यज्ञ, स्वाध्याययज्ञ - आदि की यज्ञरूपता हमें ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम के कर्तव्य की विधि का संकेत करती है।

द्रव्ययज्ञ हो अथवा तपोयज्ञ और स्वाध्याययज्ञ हो—यदि यज्ञ की भावना से किये जायें तो कर्ता में अभिमान का भाव नहीं होगा और उस यज्ञभाव के कारण असफलता का अवसाद भी पीड़ित नहीं करेगा। गीता अवसाद से भी हमें सुरक्षित करती है।

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् - 6/1

यहाँ तो स्पष्ट ही अवसाद निषेध अथवा निरोध का कथन है। योग तथा यज्ञ इन दोनों शब्दों की पारिभाषिकता भी हमें कर्म की विधि बताती है। यह यज्ञार्थसाम्यवाद वस्तुतः जीवन-प्रविधि है। वर्तमान में अर्थतन्त्र की विभीषिका के सहोत्पाद के रूप में अवसाद ने चतुर्दिक आक्रमण किया हुआ है। गीता इस अवसादरूपी असुर से हमें सुरक्षित रहने की विधि बताती है।

3. ईश्वरार्पणसाम्यवाद

ईश्वर और जीव के साम्य के द्वारा ईश्वरार्पण साम्यवाद का कथन किया गया है। *ईशावास्योपनिषद्* के प्रथम मन्त्र का ओझा जी ने नया पाठ किया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चिज्जगतीगतम्।

सर्वत्र व्याप्नुवानस्य व्याप्तिर्जीवेऽप्यवारिता।।

जगत् में जो कुछ विद्यमान है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की व्याप्ति जीव में भी निषिद्ध नहीं है। अतः ईश्वरार्पण साम्यवाद सहज ही घटित हो सकता है। जीव को अपनी ईश्वरपर्यन्त भावना करनी अपेक्षित है और यही विधि है ईश्वरार्पण की। जीव का ईश्वरपर्यन्त विस्तार ही वस्तुतः ईश्वरार्पण साम्यवाद प्रतीत होता है।

ओझाजी स्वयं गीता के स्तर की श्लोक रचना करते हुए ईश्वरार्पण साम्यवाद की विवेचना करते हैं—

ईश्वरादुद्भवन्तस्ते प्रतितिष्ठन्ति हीश्वरे।
ईश्वरे प्रविलीयन्ते नान्यो जीवः स ईश्वरात्।। — *गीताविज्ञानभाष्य*, पृ. 124

ईश्वर से उद्भूत होते हुए वे जीव ईश्वर में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। वे ईश्वर में प्रविलीन होते हैं, अतः वह जीव ईश्वर से अन्य नहीं है।

4. जीवात्मपरात्मसाम्यवाद

आत्मा के एकत्व से समदृष्टि का विधान किया जाता है। आत्मा के एकत्व से होने वाला यह साम्यवाद कहा जाता है—

स उक्तः साम्यवादोऽयमात्मैकत्वनिबन्धनः। — *गीताविज्ञानभाष्य*, पृ. 127

इस प्रसङ्ग में गीता के अनेक श्लोक ओझाजी ने उद्धृत किये हैं।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। — *गीता*, 6.32

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। — *गीता*, 13.27

5. निष्कामसाम्यवादोपदेश

जिस प्रकार अनासक्ति से उसी प्रकार निष्कामकरण के लिए भी उसे कर्त्तव्यबुद्धि से करने के लिए कर्त्तव्य का उपदेश दिया जा रहा है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

इस प्रकार ओझाजी ने यह प्रतिपादित किया है कि यह साम्यवाद का सिद्धान्त भगवद्गीता में सर्वत्र अनुस्यूत है। पं. ओझा ने इस साम्यवाद के अवान्तर भेदों का भी अपनी शोधपरक दृष्टि से निरूपण किया है।

क्षर, अक्षर और अव्यय—इन तीनों के प्रतिपादक तीन दर्शनों के क्रमिक विकास का ओझाजी ने सूक्ष्म विवेचन किया है—

1. वैशेषिक दर्शन क्षरपुरुषवर्णनपरक है।

2. अव्यक्ताक्षरपुरुष का निरूपण सांख्यदर्शन का प्रधान विषय है।

3. अव्ययपुरुष का प्रधानतया निरूपण इस शारीरक दर्शन में प्राप्त होता है।

इन तीन प्रकरणों के द्वारा यह एक ही शास्त्र मानना चाहिए। वैशेषिक, सांख्य (प्राधानिक) तथा शारीरक दर्शन, परस्पर विरोधी नहीं हैं। अपितु वैशेषिक दर्शन में विस्तार से निरूपित सगुणभावस्वरूप क्षर ब्रह्म का,

सांख्यशास्त्र में विस्तार से निरूपित इस अव्ययस्वरूप अक्षरब्रह्म का जो अवशिष्ट तथा विप्रतिपन्न विज्ञान है, उसके अनुव्याख्यान के लिए यह शारीरक शास्त्र प्रवृत्त हुआ है। ऐसी भावना करनी चाहिए।

गीताविज्ञानभाष्य में प्राप्त सूत्र वाक्य/दार्शनिक सूत्र

1. अच्युतभगवत्त्वं हि महापुरुषलक्षणम्। — *गीताविज्ञानभाष्य*, 9

2. अथैश्वादिषड्विधभगवत्त्वं श्रीमत्त्वम्। — *गीताविज्ञानभाष्य*, 10

3. नानात्माभिव्याप्तात्मतत्त्वं विभूतिमत्त्वम्।। — *गीताविज्ञानभाष्य*, 10

4. अथेतरासाधारणबलवदात्मत्वमूर्जितत्वम्।। — गीताविज्ञानभाष्य, 15

अनन्य साधारण बल से युक्त स्वरूप अर्जितता है।

1. पं. ओझा के द्वारा प्रदत्त महापुरुषलक्षण भी विलक्षण है। जिसमें अच्युत भगवत्ता पाई जाती है, वह महापुरुष है। लोक में ऐसे समस्त व्यक्तित्व, जो भगसम्पन्नता की ओर अग्रसर हैं, वे महापुरुषता के परम-पद के अनुगामी कहे जा सकते हैं।

2. लोक में प्रायः श्रीमान् अथवा श्रीमती का प्रयोग नाम से पूर्व में किया जाता है। ओझा जी ने उस श्री की व्याख्या करते हुए कहा - ऐश्वर्यादि षड्विधभगवत्ता ही श्रीमत्ता है। हम किसी भी व्यक्ति के नाम से पूर्व जो श्री शब्द अन्वित करते हैं उसके माध्यम से हम उसके लिए ऐश्वर्यादि षड्विध भगों की मङ्गलकामना करते हैं।

3. विभूतिमत्ता का लक्षण दार्शनिक तथा आध्यात्मिक अवस्था का निदर्शन प्रस्तुत करता है। नाना व्यक्तियों तथा पदार्थों में व्याप्त आत्मत्व का अनुभव करना ही वस्तुतः विभूतिमत्ता है। यह भारतीय दर्शन की तथा गीताशास्त्र की व्यापकता की अवधारणा है। इस आत्मत्व-अनुभव से व्यक्ति संकोच के क्षुद्र स्तर से मुक्त होता हुआ विशद एवं व्यापक आत्मत्व-साम्यमय परिवार का महनीय सदस्य बन जाता है। सांसारिक कलह-क्लेश फिर उसको संतप्त नहीं करते। विभूतिमत्ता सर्वथा निस्पृहता से तटस्थता अथवा उदासीनता में परिणत नहीं करती अपितु लोकसंग्रह का आचरण करता हुआ वह सांसारिक प्राणियों को असत् से विमुख कर सत् की ओर प्रवृत्त कराता है।

प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
ईमेल-saroj.kaushal64@gmail.com
9928024824

औपनिषदीय मन्त्रयोग विमर्श

योगेशप्रसाद पाण्डेय

योग शब्द संस्कृत वाङ्मय के युज् धातु से इन् (धिनुण) प्रत्यय लगाकर करते हैं 'ताच्छील्ये'[1] अर्थ में युज् का रुधादिगण में अर्थ है जोड़ना, एक करना, मिलाना। इस आधार पर एकत्र अवस्थिति का नाम योग है।[2] काशिकाकार के अनुसार युज् रुधादिगण के अलावा दिवादिगण में भी परिलक्षित होता है और वहाँ इसका अर्थ है समाधि। काशिकाकार तो वस्तुतः दोनों ही अर्थों को समान महत्त्व देते हैं।

युज समाधो दिवादि युजिर् योगे रुधादि।[3]

"युजिर योगे रुधादि" 'युज' धातु के 'योग' अर्थ को स्पष्ट करते हुये वेदों में भी एक मन्त्र प्राप्त है यथा—**"युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चितः विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महीं देवस्य सवितुः परिष्टुति"** अर्थात्—याजक एवं यजमान अपने मन बुद्धि चित्त एवं अहंकार को एकाग्र करके जगत् प्रसूति सविता देवता का ध्यान करते हुये यज्ञ का विधान करते हैं। इससे पुरोहित एवं यजमान को योग क्षेत्र की सिद्धि होगी। यहाँ पर मन को सविता देवता के साथ जोड़ने को 'योग' नाम से अभिहित किया गया है।[4]

महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त वृत्ति निरोध को योग कहा है और समाधि को भी योग कहा है।[5] भगवान् श्रीकृष्ण ने *गीता* में योग के विषय में यह उद्घोष किया है कि—**'योगः कर्मसु कौशलम्।'**[6] भगवान् की इस उक्ति पर आदि शंकराचार्य जी ने योग शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखे हैं कि—**'अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः'** अर्थात् कुशलता पूर्वक किए गये कर्म के द्वारा अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग कहा है। योग के परम्परा में 'प्राप्ति' अर्थ को महत्त्वपूर्ण आदर प्राप्त है। योग के अन्य मान्य अर्थों में प्राप्ति का यह अंश किसी न किसी रूप से स्वीकृत है। क्षेमराज ने योग को **'ज्ञानं तज्ज्ञेयतत्त्वानुभवं, योगं तदैकात्म्यप्राप्तिम्'** अर्थात् 'परमतत्त्व से एकात्मता प्राप्ति' रूप मानते हैं।[7] एक अन्य आगम शास्त्र में—**'योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना'** अर्थात् 'दो वस्तुओं के एकात्मता प्राप्ति' को ही योग के रूप में ग्रहण किया गया है।[8] योग शब्द के अनेक पारिभाषिक, यौगिक व रूढ अर्थ हैं जैसे जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण और अपान का संयोग एवं समाधि है।[9] पं. गोपीनाथ कविराज जी इसमें एक अर्थ और जोड़ते हैं—शिव और शक्ति की एकता या सामरस्य।[10] इन सबके मूल में 'प्राप्ति' का भाव छिपा हुआ है। *गीता* में योग शब्द का संदर्भ-भेद अनेक अर्थों में हुआ है। परन्तु उस अर्थ-वैचित्र्य के बावजूद भी, योग उन पद्धतियों या पद्धति की संज्ञा है जिनके द्वारा व्यक्ति परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्ति में अग्रसर हो सके।

पाशुपत सम्प्रदाय में योग की परिभाषा स्पष्ट करते हुए—'**चित्तद्वारेण आत्मेश्वर सम्बन्धहेतुर्योगः**' में 'प्राप्ति' की अनुभूति साफ पता चलती है।[11] इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदाय के आगम दर्शनों में योग की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से परिलक्षित होते हुए भी साध्य-साधक का एकात्मता प्राप्ति ही परम योग है।

'योग' शब्द कई अर्थों में *ऋग्वेद* में प्रयुक्त हुआ है। उसके भाष्य में सायण को कई वचनों में योग का अर्थ 'जो पहले से प्राप्त न हो, उसे प्राप्त करना' के रूप में किया है।[12] योग शब्द बहुधा 'क्षेम' के साथ प्रयुक्त हुआ है या सामाजिक रूप में (योगक्षेमं वः आदायाहं भूयासमुत्तम:) प्रयुक्त हुआ है।[13] *ऋग्वेद* में प्रयुक्त 'योग' शब्द के अर्थ तथा कुछ उपनिषदों एवं उत्तम संस्कृत-ग्रंथों में प्रयुक्त 'योग' के अर्थ में बहुत लम्बे काल की दूरी पड़ जाती है।

कुछ उपनिषदों में 'योग' शब्द ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि योगसूत्र में परिभाषित किया गया है। *कठोपनिषद्* में योग के विषय में कहा है कि—'**वां योगमिति मन्यते स्थिरमिन्द्रियधारणम**'[14] में (अध्यात्मयोगाधिगमेन) यह आशय देकर कहा है कि 'विज्ञलोग योग द्वारा परमात्मा का ध्यान करके तथा मन को अन्तरात्मा में स्थिर करके आनन्द एवं चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं, वहीं पर यह उपनिषद् कहती है कि—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु रन्योप्येवं यो विदधात्ममेव।।[15]

अर्थात् नचिकेता ने यम द्वारा प्रवर्तित योग विधि एवं विद्या को जानकर बह्मज्ञान प्राप्त किया है। इसके पूर्व प्रथम वाक्यानुसार स्थिति को ही योग कहते हैं क्योंकि उसमें इन्द्रियाँ तथा मन एवं बुद्धि स्थिर एवं संयमित रहती है। योग शब्द *तैत्तिरीय उपनिषद्* में भी आया है जहाँ विज्ञानमय आत्मा के विषय में कहते हुए योग को इसका आत्मा कहा गया है जिसका वास्तविक अर्थ संदिग्ध है।[16] इस प्रकार वेद में सम्यक्ज्ञान के लिए योग को एक साधन माना है।[17] ऐसा ही वेदोपनिषद् में 'योग' शब्द का न केवल प्रयोग है, बल्कि योग के कुछ स्तरों एवं उसकी पद्धति की भी व्यवस्था दी गयी है जिनके द्वारा परमात्मा की अनुभूति होती है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में योग के विषय में इस प्रकार वर्णित है कि—'इस जीवन में दोषों का सम्पूर्ण नाश योग से होता है, विज्ञ व्यक्ति उन दोषों का जो सभी प्राणियों को हानि पहुँचाते हैं उन सबका मूलोच्छेद करके शान्ति (मोक्ष) की प्राप्ति करते हैं।[18] योग के विषय में न केवल वेदोपनिषदों ने योग की पद्धति एवं व्यवहारों (आचरण) पर प्रकाश डाला है प्रत्युत *महाभारत* एवं विभिन्न पुराणशास्त्र में भी यत्र-तत्र योग विषय पर न्यूनाधिक्य वर्णन परिलक्षित होता है। विभिन्न धर्मशास्त्र में जैसा कि स्मृतियों, कल्पसूत्रों, गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में योग शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ देते हुए यौगिक ज्ञान-विज्ञान पर विशद वर्णन दृष्टिगोचर होता है। *योगसूत्र* में योग के आठ अंगों का (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि) वर्णन प्राप्त है।

षडङ्गानि च विज्ञाय प्रयुञ्जीत् यथाविधि।
प्राणायामोऽत्र पूर्वं तु प्रत्याहारोऽथ धारणा।
ततस्तर्कः समाधिश्च ध्यानं याङ्गानि षट् क्रमात्।।

अर्थात्-'षडङ्गयोगउच्यते'।[19] किन्तु *वायुपुराण* में पाँच के नाम (पञ्चार्गो योग उच्यते) अर्थात् (प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा एवं स्मरण) कर्म का वर्णन है।

इस प्रकार 'योग' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में कई मामलों में होता है। *भगवद्गीता* जो स्वयं योगशास्त्र है और जिसका प्रत्येक अध्याय योग कहा गया है, यह बात पायी जाती है, विशेषतः उस विधि या विधियों के विषय में जिससे या जिनके द्वारा परम ब्रह्म से तादात्म्य बढ़ाया जाता है। उदाहरणार्थ, गीता में ऐसे प्रयोग हुए हैं, यथा-अभ्यासयोग,[20] कर्मयोग,[21] ज्ञानयोग,[22] भक्तियोग[23]। कुछ अन्य ग्रन्थों में भी यही बात पायी जाती है। कुछ पाश्चात्य लेखकों ने योग के कई प्रकारों का उल्लेख किया है, यथा—मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग एवं हठयोग।[24] कुछ पाश्चात्कालीन प्राच्यविद्या ग्रन्थों में भी वर्णन है कि—

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः।।[25]

मन्त्रयोग:

योगसूत्र के अनुसार महर्षि पतंजलि ने चित्त-वृत्ति का निरोध करके आत्म-साक्षात्कार तथा श्रीभगवान् का सानिध्य लाभ करने को योग कहा है। इस मार्ग में जितने साधन प्रणालियाँ हो सकती हैं उन सभी को उपर्युक्त श्लोकानुसार चार भाग में विभक्त किया गया है—(1) मन्त्रयोग, (2) हठयोग, (3) लययोग, (4) राजयोग। इन चारों में से अधिकार विचारानुसार मन्त्रयोग प्रथम है। अति सूक्ष्म इन्द्रियातीत परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिए प्रकृति परायण मानव चित्त एकाएक अधिकार युक्त नहीं हो सकता है। इसलिए मन्त्रयोग हठयोग और लययोग साधन द्वारा धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर चित्त-वृत्ति को नियोजित करके अंत में राजयोग साधन द्वारा अद्वितीय, निराकार, देश-काल, परिच्छिन्न परब्रह्म सत्ता में जीवात्मा को विलीन किया जाता है। यहीं अधिकार-भेदानुसार चारों योगों का साधन क्रम है।

यह दृश्यमान निखिल विश्व प्रपंच नामरूपात्मक है। नामरूप के द्वारा सृष्ट पदार्थ मात्र से ही पृथक् सत्ता की उपलब्धि करना सम्भव नहीं होता। सूक्ष्म एवं स्थूल जगत् इन दोनों के प्रत्येक अंग प्रत्यंगों के नाम तथा रूप हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तों से ही यह तत्त्व प्रमाणित होता है। इसलिए नाम तथा रूप रूपसमूह का अवलंबन कर जितनी साधन क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं वे सभी तन्त्र मन्त्रयोग के अन्तर्गत हैं।

मन्त्रयोग का लक्षण:

आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै।
नाम-रूपात्मनोः शब्द-भावयोरलम्बनात्।।
यो योगः साध्यते सोयं मन्त्रयोगः प्रकीर्तित।।[26]

अर्थात्—अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तियों की गतियों के अनुरूप नाम मय शब्द और भावमय इन दोनों के अवलम्बन से जिस योग का साधन किया जाता है, वह मन्त्रयोग कहलाता है।

सभी प्रकार के अधिकारियों का कल्याण साधक होने के कारण मन्त्रयोग सभी जीवों के लिए हितकारी कहा गया है। सृष्टि में पंचतत्वों की प्रधानता के कारण मनुष्य की प्रवृत्ति भी पाँच प्रकार की होती है। इसी आधार पर मन्त्रयोग की उपासना भी पाँच प्रकार की कही गयी है। मानव प्रकृति के भेद से पंचोपासना का सिद्धांत शास्त्र में वर्णित है। अतएव अवतारों की उपासना भी इसके अंतर्गत ही है। पंचोपासना ब्रह्मोपासना ही है। मन्त्रयोग वेद-विज्ञान सम्मत है।[27]

मन्त्रयोग विज्ञान

जिस समय कोई कार्य होता है, वहाँ स्पन्दन सव्यापक होता है, अर्थात् स्पन्दन कार्य में व्याप्त रहता है। बिना स्पन्दन के कार्य नहीं हो सकता। स्पन्दन भी शब्दान्वयी होता है। स्पन्द उत्पन्न होने के क्षण में शब्दोत्पत्ति अवश्यम्भावी है। सृष्टि भी एक क्रिया है, कार्य है और स्पन्दन वाली है। सृष्टि क्रिया का हिल्लोल शब्द रूप से व्याप्त होता है। प्रथम स्पन्द का प्रथम शब्द ही प्रणव है, ॐ रूप है। वही शिव है। तीनों गुणों की समता में प्रकृति साम्यावस्था होती है। त्रिगुण साम्य के नष्ट होने पर उसकी वैषम्यावस्था प्रारम्भ हो जाती है। साम्यावस्था की प्रकृति का शब्द ब्रह्म, विष्णु, शिवात्मक ॐ है। वैषम्यावस्था के स्पन्दनों से समुत्पन्न विभिन्न शब्द उपासना में बीज मन्त्र रूप से प्रयुक्त होते हैं। सृष्टि पंचमहाभूतों से उत्पन्न है। अतएव पाँच उपासना पद्धतियों का निर्देश करती है। गुरु यदि शिष्यजनों की प्रवृत्तियों को और प्रकृति को देखकर, परीक्षा कर तदनुकूल मन्त्र की शिक्षा दे या रुचि के अनुकूल देवोपासना का आदेश दे, उपदेश दे, तो मुमुक्षु शिष्य शीघ्र ही मोक्ष महार्णव को पार कर लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[28] पर ब्रह्म निराकार है। उसका कोई रूप नहीं है। साधकगण रूप रहित विराट् पुरुष के रूप की कल्पना, भावना शक्ति के द्वारा कर लेते हैं। अपनी प्रकृति के अनुसार भगवद्रूप का ध्यान और बीज मंत्रों के द्वारा शीघ्र ही परामुक्ति प्राप्त हो जाती है। यही क्रम युक्त योग प्रणाली मन्त्रयोग कहलाती है। शास्त्रपारंगत विद्वान् कहते हैं कि कर्मों में कौशल ही योग है। भक्तिभावना से भरित हृदय से रूप रहित निराकार सर्वाधार परमेश्वर की रूप कल्पना कर ध्यान करता हुआ परम पद को तत्काल ही प्राप्त कर लेता है।

मन्त्रयोग साधन प्रशंसा

मन्त्र योग साधन द्वारा जीव शाश्वत परमपद प्राप्त कर लेता है। साधक साधना के द्वारा परम अमृतमय ज्ञान प्राप्त करता है। यह शुभ योग अत्यन्त प्रशंसनीय है। इसका अनुसरण करने से सांसारिक प्रत्येक विषाद नष्ट हो जाते हैं। मन्त्रयोगी देवों और मानवों में भी श्रेष्ठ हो जाता हैं ब्रह्मविद्योगी ब्रह्मरूप हो जाता है। वस्तुतः वह योगी धन्य है।[29]

मन्त्रयोग में जिस तरह नाना प्रकार मन्त्र समूह का वर्णन है। सगुण ध्यान में पाँच प्रकार के ध्यान का उल्लेख है। यथा—विष्णु, सूर्य, देवी, गणेश एवं शिव। पूज्यपाद महर्षियों ने इस प्रकार के पाँच भेद का कारण वर्णन करते हुए कहा है कि दृश्यमान सृष्ट जगत् पञ्च भौतिक होने से प्रत्येक मानवीय प्रकृति में भी पाँच प्रकार के भेद विद्यमान है। अतः पृथक्-पृथक् प्रकृति के लिए पंचोपासना विहित है। जिस प्रकार प्रकृति, प्रवृत्ति एवं योग्यतानुसार मन्त्रोपदेश करना कर्तव्य है उसी प्रकार साधक की प्रकृति, प्रवृत्ति एवं योग्यता के अनुसार ध्यान का उपदेश प्रदान करने से साधक की आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है।

मन्त्रयोग षोडश अंगों में विभक्त है—(1) भक्ति, (2) शुद्धि, यह शुद्धि पुनः दिक् शुद्धि, स्थान शुद्धि, शरीर शुद्धि एवं अन्तः शुद्धि इत्यादि भेद से अनेक प्रकार की है, (3) आसन, सुखपूर्वक बैठने की रीति अथवा बैठने का आधार, (4) पंचांग सेवन, अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार गीतापाठ, सहस्रनामपाठ, स्तोत्रपाठ आदि, (5) आचार अर्थात् जिस रीति के अनुसार साधक को रहना चाहिए। त्रिविध गुणानुसार यह आचार भी विविध है, (6) धारणा-अन्तः बहिर्भेद से दो प्रकार की है, (7) दिव्यदेश षोडश प्रकार के हैं। जिस आधार पर उपासना की जाती है उसे दिव्यपदेश कहते हैं, जैसे—अग्नि, जल, मूर्ति, पट, हृदय, मन आदि। किञ्चित् विचार करने से ही इस दिव्यपदेश सम्बन्धी विज्ञान को सरलता से समझा जा सकता है सनातन धर्म पालन करने वाले साधक कितने सरल उपायों द्वारा कतिपय आधार विशेष का आश्रयकर निराकार ब्रह्म की उपासना में लगे रहते है। (8) प्राणक्रिया, प्राणायाम और न्यास आदि, (9) मुद्रा, मुद्रा समूह भी भावमय शारीरिक क्रियामात्र है, (10) तर्पण (11) हवन (12) बलि (13) योग, यह भी बहिः एवं अन्तः भेद से द्विविध है, (14) जप (15) ध्यान, (16) समाधि, जिस प्रकार लययोग की समाधि को महालय और हठयोग की समाधि को महाबोध कहते हैं, उसी प्रकार मन्त्रयोग की समाधि को महाभाव कहते हैं जब तक त्रिपुटी रहती है तब तक ध्यानाधिकार रहता है, त्रिपुटी के लय हो जाने से महाभाव का उदय होता है। मन्त्रसिद्धि के साथ ही साथ देवता में मन का लय होकर त्रिपुटी का नाश होने पर योगी को समाधि की प्राप्ति होती है। प्रथम मन, मन्त्र और देवता का स्वतन्त्र बोध रहता है। परन्तु ये तीनों बोध एक दूसरे में लय होते हुए ध्याता, ध्यान, ध्येय रूपी त्रिपुटी लय हो जाती है। इस अवस्था में आनन्दाश्रु और रोमांच आदि लक्षणों का विकास होता है। क्रमशः मन लय होकर समाधि का उदय होता है। समाधि प्राप्ति द्वारा साधक कृतकृत्य हो जाता है। महाभाव प्राप्ति ही मन्त्रयोग का चरम लक्ष्य है। मन्त्रयोग समाधि का नाम महाभाव है। रीति और क्रम के अनुसार इन षोडश अंगों की साधना करने से योगी समाधि में सिद्धि लाभ कर वास्तविक आत्मानन्द का अनुभव करने में समर्थ होता है।

उपर्युक्त षोडषांग *मन्त्रयोग संहिता* में विशेष एवं विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। *मन्त्रयोग संहिता* में मन्त्रयोग के और भी विषय जो मन्त्रयोग से सम्बन्धित प्रधान है जैसा कि दीक्षोपयोगी काल-दीक्षा-विवरण (मास निर्णय), वार-निर्णय, तिथि-निर्णय, नक्षत्र, योग, करण, लक्षण, पक्ष आदियों का निर्णय एवं दीक्षोपयोगी देश-दीक्षा स्थान, निर्णय एवं मन्त्र-निर्णय विधिका वर्णन है। मन्त्रयोग से सम्बन्धित तन्त्रान्तरोक्त कुलाकुलचक्र विज्ञान, राशिचक्र, अकथहचक्र, अकडमचक्र, ऋणधनिचक्र, पञ्चदेव विधान, अधिकार निर्णय, मन्त्रयोगांग वर्णन, भक्ति-वर्णन, शुद्धिवर्णन, स्थान शुद्धि, कायशुद्धि, दिशाशुद्धि, अन्तः शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्ग, सेवन, सदाचार, लतासाधन, शप्ताधिकार, धारणा, मन्त्रयोग, वाह्यमातृकान्यास संस्कार, दिव्यदेश वर्णन, प्राणक्रिया, प्राणायाम, अन्तमार्तृका न्यास, ऋष्यादि न्यास, मुद्रावर्णन, तर्पण, हवन, बलिभाग, पूजोपचार, एकविंशतिउपचार, उपयाग, जप, साधन स्थान, साधनाधिकार, पचांगशुद्धि, मन्त्रसिद्धि के उपाय, मन्त्रबीज, मन्त्रोत्पत्ति, ब्रह्ममन्त्र, करमाला, मालाविचार, ध्यान, ईश्वर के रूपभेद, विषय स्वरूप

भेद, ध्यान भेद, एवं मनोविज्ञान का वर्णन क्रम में यह बताया गया है कि साधकों के लिए सत्त्वप्रधान मन ही हितकर है। इसके द्वारा ही परमानन्द की प्राप्ति हितकर है। इसके द्वारा ही परमानन्द की प्राप्ति करते हैं। पतंजलि के द्वारा मन की 5 भूमियाँ निर्धारित की गयी है। 1-क्षिप्ता, 2-विक्षिप्ता, 3-मूढा, 4-एकाग्रा और 5वीं-निरुद्धा इस भूमि को पाना बड़ा दुर्लभ है। एकाग्रा की सहायता से ही श्रेष्ठ साधक उसे प्राप्त कर पाते हैं मनोविज्ञान वर्णन क्रम में मन को ही बन्धन एवं मोक्ष का मूल कारण माना है जैसा कि—

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।
बन्धस्य विषयासक्तिर्मुक्तेर्निर्विषयं मनः।।
मन:स्थं मनमध्यस्थं मध्यस्थं मनवर्जितम्।
मनसा मनमालोक्य स्वयं सिध्यन्ति योगिनः।।
इत्थं मनः सुसंयम्य योगिनो यतमानसाः।
भवाम्भोधिं समुत्तीर्य यान्ति धाम परात्परम्।।[30]

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। बन्धन देने वाला मन विषय में आसक्त रहता है और मुक्ति दिलाने वाला मन विषय वासना से रहित होता है। 'मन' शब्द संस्कृत में नहीं होता पर यहाँ आर्ष प्रयोग है।

योगी जन मन के द्वारा आत्मचिन्तन से सिद्ध हो जाते हैं। वे मन के अन्तराल, मन के मध्य, मन और मननीय के मध्य को, मन से वर्जित दशा को भी स्वयं देखने में तथा मन का संयम करने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसे जितेन्द्रिय योगी मन का संयम कर संसार-समुद्र को पारकर परात्पर परमात्म धाम को प्राप्त कर लेते हैं। सत्य तो यह है—

मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्तसागरस्य आराधकचित्समेव
मन्त्र; न तु विचित्रवर्णसंघटनामात्रकम् ।

इस प्रकार मन्त्रबल को जानना अत्यन्त दुष्कर है। योगिराज भी उसे नहीं जान पाते—**"प्रभावमस्य मन्त्रस्य योगिनामप्यगोचरः।"**

सन्दर्भ

1. *आगमरहस्य* उद्धृत *त्रिपुरार्णवतन्त्र*, भूमिका, पृ. 4
2. *पाणिनिव्याकरण सिद्धांत कौमुदी।*
3. *काशिकावृत्ति*, पाणिनी-3/2/142
4. *शुक्ल यजुर्वेद*-37-2, 5-14, 11-4
5. *योगसूत्र*-1/2, *योगसूत्र*-1/1/2
6. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2/50
7. *स्वच्छन्दतन्त्र* उत्तर भाग-3, पृ. 141

8. *मालिनीविजयोत्तर* तन्त्र-4/4
9. *हरिहरानन्द आरण्यक*- पृ. 3
10. *भारतीय संस्कृति और साधना*, पृ.-382
11. *पशुपत सूत्र*-512
12. *ऋग्वेद*-1/52
13. *ऋग्वेद*-7/54/3,7/86/8, 10/165/5
14. *कठोपनिषद्*-2/12, 6/2
15. *कठोपनिषद*-6/18
16. *तैत्तिरीय उपनिषद्* 2/4
17. *बृहदारण्यकोपनिषद्*-2/4/5
18. *आपस्तम्ब धर्मसूत्र*-1/8/23/3-6
19. *योगसूत्र*-2/28-29, *मैत्रायणी उपनिषद्* 2/18, *अत्रिस्मृति*-9/6 *विष्णु संहिता* पटल-30 श्लो. 57-58 *ध्यानबिन्दूपनिषद्*-41, *गोरक्षशतक*-1/4, *स्कन्दपुराण* काशीखण्ड-41/50, *अपरार्क* (स्मृति)-3/110. *बृहद्योगियाज्ञवाल्क्य* -9/35. *लिंगपुराण*-1/8/8-9
20. *श्रीमद्भगवद्गीता*-8/8, 12/9
21. *श्रीमदभगवद्गीता*-3/3 एवं 7
22. *श्रीमद्भगवद्गीता*-3/3
23. *श्रीमद्भगवद्गीता*-14/26
24. एफ यीट्स-ब्राउन कृत *'बंगाल लैंसर'* (1930, पृ. 284), आर.सी.ओमन कृत *'दि मिस्टिक्स् ऐसेटिक्स एण्ड सेक्ट्स आव इण्डिया* (1905 का संस्करण, पृ. 172), जेराल्डाइन कॉस्टर कृत *'योग एण्ड वेस्टर्न साइकॉलाजी*, पृ.-10, ऐलेन डैनीलो का ग्रन्थ (पृ०-83)
25. *योगतत्त्वोपनिषद्*-(19), *शिवसंहिता* (5/9), *योगशिखोपनिषद्*-श्लोक-129
26. *मन्त्रयोगसंहितातन्त्रम्*-श्लोक-4
27. *मन्त्रयोगसंहितातन्त्रम्*-श्लोक-5, 6, 7, 8
28. *मन्त्रयोगसंहितातन्त्रम्*-मन्त्रयोगविज्ञानप्रकरण-श्लोक-1 से 6
29. *मन्त्रयोगसंहितातन्त्रम्*-साधन प्रशंसा प्रकरण-श्लोक-1
30. *मन्त्रयोगसंहितातन्त्रम्*-मनोविज्ञान प्रकरण-श्लोक-141, 142, 143

शोधछात्र, वैदिकदर्शनविभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

मनु एवं *याज्ञवल्क्य स्मृति* में योगशिक्षा एवं प्राणायाम का विवेचन

डॉ. मिथिलेश कुमार शुक्ल

सारांश

धर्मशास्त्र या स्मृति ग्रन्थों में मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति का अप्रतिम स्थान हैं। इसमें योग दर्शन एवं शिक्षा तथा प्राणायाम की साधना से मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। आज 21 वीं सदी में योग परम्परा पूरी दुनिया में फैल रही है। महर्षि याज्ञवल्क्य को योगिराज भी कहा जाता है। योग के चार पाद है- समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद, एवं कैवल्यपाद। अष्टाङ्ग योग कियाएँ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। साधनापाद एक विधि व प्रणाली है। तप या तपस, तपस्या, वैराग्य एवं दैहिक संयम है। स्वाध्याय, वेदानुवचन या वेदाध्ययन परमकर्तव्य है। ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर भक्ति भी योगाभ्यास के लिए आवश्यक है। प्रणायाम योग का सबसे प्रमुख अंग है। योग के तीन अन्तरङ्ग साधन है। इनकी क्रियाओं को कर्मणा-मनसा-वाचा करने से आत्म साक्षात्कार (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

शब्द संकेत

'शिक्षादर्शन' सहज ज्ञान 'धर्मशास्त्र' अनुशीलन 'स्मृतिग्रन्थ' स्मृति और शिक्षा योग शिक्षा प्राणायाम।

प्रस्तावना

'योग' शब्द का सबसे प्रचलित है जोड या मिलन, अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से मिलन। तत्त्व साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार के लिए योग साधन की आवश्यकता होती है। भारतीय दर्शन में योगदर्शन या योगशास्त्र की प्राचीन परम्परा रही है।[1] योग दर्शन के आलोक में *मनुस्मृति* एवं *याज्ञवल्क्य* स्मृति में योग एवं प्रणायाम शिक्षा का विवेचन करना हमारा प्रमुख प्रतिपाद्य है।

योग शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में होता है। वैसे तो *भगवद्गीता* का प्रत्येक अध्याय एक योग साधना है क्योंकि प्रत्येक अध्याय में ब्रह्म से तादात्म्य करने का उपदेश दिया गया है। फिर भी गीता में योग की चार विद्याओ का उल्लेख है—ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं अभ्यास योग या ध्यानयोग।[2] जो भी यज्ञविशेष (योग) का अनुभव करने वाले श्रेष्ठ मनुष्य है सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं।[3] योग के अन्य प्रकारों का उल्लेख अन्यत्र मिलता है। यथा—मन्त्र योग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग।[4] एक अन्य है महर्षि अरविन्द का सर्वांग योग। इनमें गीता के अतिरिक्त तीन योग—गोरखनाथ का हठयोग, पतञ्जलि का राजयोग और अरविन्द का सर्वांगयोग सूत्र प्रचलित है। अतः तीन गीता के एवं तीन ये कुल छः योग प्रसिद्ध है, लेकिन योग-दर्शन के नाम से महर्षि पतञ्जलि का राजयोग ही जाना जाता है।

योग को स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रतिस्थापित करने का श्रेय महर्षि पतञ्जलि को है। जिनका समय ई.पू. द्वितीय शताब्दी है। इनका 'योग सूत्र', योगभाष्य सर्वाधिक प्रमाणिक ग्रन्थ है जिस पर कई भाष्य लिखे गये जिसमें व्यास का भाष्य योगभाष्य एवं वाचस्पति मिश्र का भाष्य—'तत्त्व वैशारदी' तथा विज्ञानभिक्षु का 'योग वार्तिक' सबसे प्रसिद्ध है। स्वामी विवेकानन्द ने योग सूत्र पर '*राजयोग*' नाम से रचना की। अभी हाल ही में अरविन्द के जन्म दिवस को 21 जून को अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस मनाया जाने लगा है। अतः भारत को 21 जून को अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस मनाया जाने लगा है। अतः भारत की योग परम्परा का आगाज पूरी दुनिया में हो रहा है।

मनुस्मृति एवं *याज्ञवल्क्य* स्मृति की योग साधना

पतञ्जलि योग सूत्र में चार पाद एवं अष्टाङ्गयोग क्रियाएँ है, इन्ही पादों एवं क्रियाओं में योग की जो विधाएँ दी गई है उन्हीं के अनुसार का विवेचन *मनुस्मृति* एवं *याज्ञवल्क्यस्मृति* में भी प्राप्त होता है। ये चार पाद है, समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद, एवं कैवल्यवाद । अष्टाङ्ग योग क्रियाएँ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, एवं समाधि। इन पादों एवं अष्टाङ्ग रूप में स्मृतिग्रन्थ के विवेचन का मतलब यह नही है कि स्मृतियों ने पतञ्जलि का अनुकरण किया है। अपितु योग सम्बन्धी दर्शन का साम्यानुरूपण करना है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने 3/110 में लिखा कि योग की इच्छा वाले को जिस आरण्यक (*वृहदारण्यक*) को मैंने सूर्य से प्राप्त किया है उसे जानना चाहिए तथा मेरे द्वारा बतलाये गये 'योगशास्त्र' को जानना चाहिए। डेकन कॉलेज संग्रह में इसकी जो हस्तलिखित प्रतियाँ है, उसमें 12 अध्याय एवं 495 श्लोक है।[5] याज्ञवल्क्य को 'योगिराज' भी कहा गया है।[6] योग शब्द 'यजु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—समाधि। पतञ्जलि ने योग की परिभाषा दी कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः)। बुद्धि, अहङ्कार, और मन इन तीनों को मिलाकर 'चित्त' का नाम दिया जाता है। चित्त का अर्थ है अन्तः करण, चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में होता है। अतः योग को समाधि भी कहा गया है।[7] याज्ञवल्क्य ने कहा कि कर्मों में जो श्रेष्ठ धर्म है उसका योग द्वारा साक्षात्कार होता है।[8] इसके लिए अविक्षिप्त चित्त से गुरु के सान्निध्य से मन, वाणी, क्रिया से आचरण करे।[9] अतः चित्त वृत्तियों को सांसारिक भोग से हटाकर ईश्वर या ब्रह्म की ओर लगाने से आत्मा-परमात्मा के योग से है। आचार्य मनु एवं याज्ञवल्क्य महर्षि द्वय ने इसे आत्म साक्षात्कार के रूप में परिभाषित किया है।[10] 'ध्यानयोगेन संपश्येत्सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितः।'[11] अतः समाधि का तात्पर्य है योग, जो चित्तवृत्तियों के निरोध से होता है। यहाँ सांख्य, योग वेदान्त के समान धर्मशास्त्र में भी अचल आत्मा या क्षेत्रज्ञ से जीवात्मा का मिलन हो जाता है।[12] लेकिन मनु व याज्ञवल्क्य ने शङ्कर के वेदान्त की तरह माया एवं पुनर्जन्म को भी दर्शाया है।

द्वितीय साधनापाद एक विधि, प्रणाली उपस्थित करता है, जिस व्यक्ति का मन ध्यान में नही लगता, चञ्चल रहता है, चञ्चल या विक्षिप्त रहता है वह साधना द्वारा भौतिक संसार की आसक्ति से विरक्त हो पाता है। डॉ. काणे के अनुसार इस पाद ने भारतीय एवं पाश्चात्य विद्यार्थियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है एवं धर्मशास्त्र के ग्रन्थों को भी बहुत प्रभावित किया।[13] इस विधि से आत्मा नित्य एवं शुद्ध होता है। इसमें क्रियायोग या

अभ्यास की क्रियाएँ की जाती है। तप-स्वाध्याय-ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर भक्ति) को कार्य रूप में परिणत किया जाता है। इसी के अन्तर्गत समस्त अष्टाङ्ग की क्रियाएँ होती है जिससे अविद्या का नाश हो जाता है एवं आत्मसाक्षात्कार होता है। इन सभी क्रियाओं की व्याख्या करना समीचीन प्रतीत होता है—

'तप या तपस्' तपस्या, वैराग्य एवं दैहिक संयम है। समस्त भारतीय वाङ्मय में तप या वैराग्य की महत्ता दी गयी है। *ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय उपनिषद्, वृहदारण्यक उपनिषद्, छान्दोग्यउपनिषद्, आपस्तम्बधर्म सूत्र, गौतम धर्मसूत्र* सभी जगह कठोरव्रत, नियम, तप, उपवास की व्यवस्था दी गयी है। आचार्य मनु ने कहा कि ब्रह्म ने सृष्टि की इच्छा के साथ काल, विभाग, ग्रह, नक्षत्र इत्यादि के साथ तपस्या की भी सृष्टि की।[14] मारीचिप्रभृति दश महर्षियो ने तपस्या के बल पर ही शक्तियाँ प्राप्त की थी (मनु. 1/41)। स्वयं ब्रह्मा ने भी तपस्या के बल से ही हव्य-कव्य के लिए मुख से ब्राह्मणों को उत्पन्न किया (मनु. 1/94)। आचार्य मनु ने आर्यावर्त को योनिविद्या तपःभूमि कहा है (मनु. 1/19-23)। एक अक्षर प्रणव सर्वोत्तम वेद है। तीन प्राणायाम सर्वोत्तम तपस्या है। (2/83)। संन्यासी के लिए शास्त्रोक्त विधि से किये गये सात व्याहृतियों से और दस प्रणवों (ओङ्कार) से युक्त केवल तीन प्राणायाम को ही उत्तम तपस्या जानना चाहिए (मनु. 6/70)। आचार्य मनु ने तपस्या की विधिवत् विवेचना करते हुए कहा[15] कि 'मनुष्य तो क्या महापातक, कीट-पतंगें, पशु-पक्षी स्थावर प्राणी भी तप के बल है' (मनु. 11/240)। ठीक इसी तरह 'तप' की महत्ता याज्ञवल्क्य ने भी बताई कि ब्रह्मा जी ने स्वयं तप करके हव्य-कव्य के लिए ब्राह्मणों को उत्पन्न किया है। विद्या एवं तप ही किसी अनुष्ठान की सही पात्रता है।[16] तप ज्ञान का हेतु है (याज्ञ. 3/190) यज्ञ एवं तप दोनों से स्वर्ग प्राप्त होता है (याज्ञ. 3/195)। अतः तपस्या या वैराग्य से योगी अमृत्व या ब्रह्मत्व की प्राप्ति करता है।

स्वाध्याय, वेदानुवचन या वेदाध्ययन हेतु परम कर्त्तव्य बताया गया है। स्वाध्याय का तात्पर्य ॐ प्रणव व्याहृतियों का जप एवं वेदाध्ययन दोनो से है। वेदमन्त्रों का श्रवण, मनन निदिध्यासन (प्रत्यक्षीकरण) सभी आश्रमों के लिए परम आवश्यक है (याज्ञ. 3/191-92). जपयज्ञ की सिद्धि के लिए वेद, पुराण, इतिहास का अध्ययन करने से आध्यात्मिक विद्या मिलती है।[17] आचार्य मनु ने भी कहा कि स्वाध्याय का अभिप्राय है कि वेदों का निरन्तर साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करना, संध्योपासना करना और अग्निहोत्र करना। यह दूध, दही, घी, मधु, के समान कल्याणवर्षक है।[18] स्वाध्याय निदिध्यासन दर्शन भी कहलाता है। स्वाध्याय करने से मनुष्य जीवन शान्तिमय, गुणमय, ज्ञानमय, एवं आनन्दमय बना रहता है, यही आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति का साधन है।[19] *मनुस्मृति* में स्वाध्याय का विवरण अनेकों स्थलों पर है।[20] आध्यात्मिक ज्ञान एवं आध्यात्मिक विद्या के लिए यह परमाश्यक है।

ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर भक्ति भी योगाभ्यास के लिए आवश्यक है। डॉ. काणे के अनुसार योगसूत्र 17वें में सम्प्रज्ञात समाधि (सचेतध्यान) के चार स्तर बताये गये हैं, उनमें प्रथम स्तर शालग्राम या चतुर्भुज भगवान् के स्थूल स्वरूप पर ध्यान लगाना है। सूत्र 23-28 तक में ईश्वर की भक्ति द्वारा समाधि एवं मुक्ति की प्राप्ति का उपाय दिया है। ईश्वर एक विशिष्ट पुरुष है उसका वाचक प्रणव (ॐ) है। इसके उच्चारण के

साथ प्राणायाम करने से चित्त एकाग्र होकर असम्प्रज्ञात समाधि (निर्गुण) की उद्भूति होती है। अतः सगुण भक्ति से निर्गुण भक्ति हो जाती है।[21] ठीक इसी का अनुपालन करने का निर्देश मनु व याज्ञवल्क्य ने भी किया है। 'ॐ' की विशेष महत्ता मनुस्मृति में अनेक जगह दी गयी है उसका जप मन में करना चाहिए।[22] मात्र एक अक्षर ॐ (प्रणव) सर्वोत्तम वेद है (मनु. 2/81-82)। *मनुस्मृति* में ॐ एवं गायत्री का विशेष उल्लेख है (2/74-87, 11/222, 225, 265)। याज्ञवल्क्य ने भी पाँच या सात महाव्याहृतिपूर्वक वेद पढ़ाने का उल्लेख किया है। (याज्ञ. 1/15)। अतः धर्मशास्त्र में ईश्वर भक्ति में प्रणव (ॐ) एवं सावित्री (गायत्रीमन्त्र) का जप, सगुण ब्रह्म उपासना का तथा आत्म साक्षात्कार हेतु निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने का निर्देश प्राप्त हुआ है।

भारतीय योग दर्शन में अष्टाङ्ग योग क्रियाओं (सूत्रों) का विशेष महत्त्व है। इन यौगिक क्रियाओं से अशुद्धियाँ (शारीरिक+मानसिक) दूर हो जाती है। जैसा कि डा. काणे कहते है कि धर्मशास्त्र ग्रन्थों में इन्ही सूत्रों पर विशेष बल दिया गया है।[23] ये अष्टाङ्ग सूत्र है—यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि।

यम-नियम का पालन प्रत्येक योगी को मनसा, वाचा, कर्मणा करना चाहिए। यम संयम एवं नियम दोनों का पालन एक साथ करना चाहिए। सामान्यतः पाँच यम है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, एवं अपरिग्रह, तथा पांच नियम है—शौच (शुद्धता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर भक्ति)[24] पाँचों यमों का पालन करने पर योगी महाव्रती कहलाता है एवं पाँचों नियमों का पालन क्रियायोगी करता है। आचार्य मनु ने यम-नियम की संख्या को नहीं गिनाया, लेकिन 4/204 से स्पष्ट उल्लेख करते है कि यम-नियम दोनों का ही पालन उन्नतिकारक है। केवल एक का पालन पाप है।[25] परन्तु याज्ञवल्क्य ने 3/312-13 में दस यम एवं दस नियम बताये है। यम है—ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, सरलता, अहिंसा, अचौर्य, मधुरता, दम (इन्द्रिय निग्रह)। नियम है—स्नान, मौन, उपवास, यजन, स्वाध्याय, उपस्थ (जननेंद्रिय) का निग्रह, गुरुसेवा, पवित्रता, अक्रोध, अप्रमाद। अत: ये सभी यम-नियम पतञ्जलि से थोड़े-से भिन्न हैं, लेकिन फिर भी महत्त्वपूर्ण है। समस्त *मनुस्मृति* एवं *याज्ञवल्क्य स्मृति* में ब्रह्मचर्य व्रत, स्नातक व्रत, गृहस्थ व्रत, संन्यास व्रत, शौच-अशौच का ही विवरण है जो विविध प्रकार के करणीय-अकरणीय कर्मों के रूप में विवेचित है।

अष्टाङ्ग सूत्र में आसन वह है जिससे शरीर का सुख और चित्त की स्थिरता बनी रहे (स्थिरसुखमासनम्)। योग में आसन शारीरिक अवस्थिति को दर्शाता है। कुल 84 आसनों की चर्चा होती है उनमें सिद्धासन एवं पद्मासन सर्वश्रेष्ठ है।[26] प्राणायाम को आसनों के रूप में ही दर्शाया गया है इसलिए मनु महाराज आसन के बजाय प्राणायाम का विशेष उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि पूर्व की ओर मुख करके कुशों, के ऊपर बैठकर, पवित्री से शुद्ध होकर तीन प्राणायाम करे।[27] लेकिन *याज्ञवल्क्य स्मृति* 3/118-19 में पद्मासन का उल्लेख है कि जाङ्घों पर चरणों का उतानकर, बांये हाथ में दाहिने हाथ को उत्तान रखकर, मुख को कुछ ऊपर उठाकर, वक्षः स्थल से स्तम्भित कर आंखों को बन्द कर, सत्त्वभाव (काम-क्रोध से विरत होकर) में स्थिर

होकर, दांतों को सटाकर, तालु में जिह्वा को निश्चलकर, मुख को बन्दकर, अत्यन्त निश्चल होकर, इन्द्रियों को विषयों से हटाकर, न बहुत ऊँचें, न बहुत नीचे आसन पर बैठकर, दुगुना या तीन गुणा प्राणायाम का अभ्यास करे।[28] अतः आसन लगाने से मन, चित्त स्थिर हो जाता है तथा शारीरिक रोगों का भी निवारण होता है।[29] आसन रमाने (योगाभ्यास) में खान-पान की शुद्धता का भी विशेष महत्त्व था। *उपनिषदों, महाभारत, हठयोग प्रदीपिका* में अनेक तरह के निर्जन स्थलों का भी उल्लेख है। लेकिन *मनुस्मृति* अध्याय-5 एवं *याज्ञवल्क्य स्मृति* अध्याय-1 प्रकरण-7 में भक्ष्याभक्ष्य एवं देहशुद्धि का विशेष विवरण है वह प्रत्येक योगी को अपनाना चाहिए।[30]

'प्राणायाम' योग का प्रमुख अङ्ग है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'प्राण (वायु) का आयाम या नियन्त्रण।' यह श्वास-प्रश्वास का संयम है। वेद, उपनिषद्, पुराण, गीता सब जगह प्राणवायु का विशेष विवरण है। योगसूत्र में है कि 'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' इसकी तीन दशाएँ है—पूरक, रेचक, कुम्भक, अर्थात् श्वास को लेना, रोकना एवं छोड़ना। मनु के अनुसार—शास्त्रोक्त विधि से किये गये सात व्याहृतियाँ (सावित्री जाप) और दश प्रणवों (ॐ) से युक्त तीन प्राणायाम परम तप के समान है। प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं।[31] मनु ने तो यहाँ तक कहा कि "कुत्ते, सियार, गधे, बिल्ली, मानव, घोड़े, ऊँट, सूअर के काटने के दोष को प्राणायाम करके दूर कर शुद्ध हो सकते है।"[32] प्राणायाम की इतनी महत्ता है कि "प्रतिदिन किये गये गए व्याहृतियों से और प्रणव से युक्त 16 प्राणायाम एक महीने तक करने से ब्रह्महत्या करने वाला भी शुद्ध हो जाता है।"[33] उन्होंने प्रारम्भ (2/83) में ही कहा कि एक अक्षर प्रणव सर्वोत्तम वेद है, तीन प्राणायाम सर्वोत्तम तपस्या है, सावित्री से बड़ा कोई जप मन्त्र नहीं है मौन से सत्यभाषण बड़ा होता है। अतः आचार्य मनु के अनुसार प्राणायाम के साथ प्रणव उच्चारण एवं सावित्री जप्य सन्ध्यावन्दन के बीच में करने से परब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

योगी याज्ञवल्क्य ने भी कमोवेश इसी तरह प्राणायाम की महत्ता बतायी है। उन्होंने कहा कि शिरो मन्त्र (आपो ज्योतिः) से मार्जन, स्नान, प्राणायाम, सूर्य का उपस्थान एवं गायत्री का जप करना चाहिए (3/22)। शिरो मन्त्र तथा प्रणव से युक्त प्रत्येक व्याहृति को पूर्व में संयुक्त कर तीन बार गायत्री का मुख और नासिका के संचार वायु को रोककर जप करना प्राणायाम कहलाता है (3/23)। जैसे प्रातःकाल पूर्वाभिमुख बैठकर सूर्यदर्शन होने तक जप, प्राणायाम करते थे। वैसे ही सांय को पश्चिमाभिमुख बैठकर प्राणायाम कर 'आपो हिष्ठा' इत्यादि तीन मन्त्रों से जल शिर पर छिड़ककर तारागण के उदय होने तक गायत्री मन्त्र का जप करे (3/24)। तदन्तर दोनों सन्ध्याओं में अग्निकार्य (अग्निहोत्र) करे (3/25) अर्थात् प्रातः सांय प्राणायाम करने के बाद अग्निहोत्र एवं गायत्री जप करना गुणकारी था। जिस प्रकार पतञ्जलि ने प्राणायाम की तीन दशाएँ—श्वास (पूरक), प्रश्वास रेचक) तथा गतिविच्छेद (कुम्भक) बतायी है।[34] इसको योगी याज्ञवल्क्य ने अधम (15 मात्राएँ) मध्यम (30 मात्राएँ) एवं उत्तम (45 मात्राएँ) बताया है (याज्ञ. 3/200-201)। इन मात्राओं की संख्या विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न दी गयी है। वस्तुतः प्राणायाम की विधि थी अंगूठे से दाहिनी नासिका छिद्र से शक्ति भर सांस ले, तत्पश्चात् दाहिनी नासिका से सांस छोड़े । पुनः दाहिनी नासिका से शक्तिभर सांस

ले और बांयी नासिका से सांस छोड़े। यह क्रिया कम से कम तीन बार तथा प्रतिदिन दो बार अभ्यास करे। यही दोनों क्रियाएँ सामान्य रूप से करनी चाहिए। श्वास-प्रश्वास के अभाव, विच्छेद को कुम्भक (श्वास रोकना) कहते है यही प्राणायाम है, यह उत्तम है। मनु के समान ही इन्होंने भी कहा कि ऐसे सभी पापों, उपपातकों, जिनके लिए प्रायश्चित का विधान नही किया गया है, यदि एक सौ बार प्राणायाम कर लिया जाय तो शुद्धि हो जाती है।[35] अतः प्राणायाम में सावित्री एवं प्रणव उच्चारण करने से व्यक्ति पाप मुक्त हो जायेगा एवं योग सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मत्व की प्राप्ति हो जाती है।[36]

प्रत्याहार शब्द प्रति+आ+ह् से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है पीछे ले आना, लौट आना। निःसन्देह इन्द्रियों का स्वभाव है विषयोन्मुख होना। कुरंग, मातंग, भृग, कीट पतंग को छोड़िए प्रज्ञ मानव का बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त होना स्वभाव है। जब इन्द्रियों का अपने विषयों से संयोग न हो, वे उनसे पृथक् कर ली जाय, लौटा ली जाय क्योंकि मन का निरोध हो चुका है। इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध से न जुड़े एवं पृथक् होने के साथ-साथ चित्त (मन) के अनुरूप हो जाय, तो उसे प्रत्याहार कहते है। ऐसी अवस्था में चित्त एकाग्र हो जाता है। उसकी बहिर्गामी गतियाँ रूक कर अन्तर्मुख हो जाती है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि जब अन्तर्धान हो जाय, स्मृति (विषय स्मरण), शोभा, दृष्टि, श्रोतज्ञता हो जाय वही योग सिद्ध है।[37] यही प्रत्याहार है। ब्रह्मचारी के लिए, स्नातक गृहस्थ के लिए एवं यति (संन्यासी) के लिए इन्द्रिय विषयों का नियन्त्रण अनिवार्य है।[38]

अतः योग के उपर्युक्त बहिरंग साधनों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार का विवरण जो *मनुस्मृति* एवं *याज्ञवल्क्य स्मृति* में दिया गया है वह योग शिक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण है।

योग के तीन अन्तरङ्ग साधन है—धारणा, ध्यान एवं समाधि। ये तीनों क्रमशः आने वाली अवस्थाएँ है। विभूतिपाद में कहा गया है कि जब ये तीनों अभ्यास एक ही विषय या पदार्थ पर किया जाता है तो उसे 'संयम' कहते है। कई प्रकार के संयम के परिणाम ही विभूतियाँ है। इन तीनों का अर्थ है—धारणा का अर्थ है कि कुछ काल तक चित्त को किसी स्थल, बिन्दु पदार्थ पर लगाना। इसमें शरीर के विशिष्ट अङ्गों जैसे नाभिचक्र, नासाग्र, सिर, ज्योति (आँख), हृदय कमल, जीवन या ईष्ट देवता की मूर्ति में भी लगाना है। ध्यान का अर्थ है ध्येय वस्तु पर एकाग्रता। इसमें किसी अन्य भावना या परिज्ञान का अभाव हो जाता है। इसे *गीता*[39] में ध्यानयोग कहा गया है। *वृहदारण्यक उपनिषद्* में इसे निदिध्यासन[40] कहते है एवं *माण्डूक्योपनिषद्*[41] में 'ॐ' के रूप में आत्मा का ध्यान करने का निर्देश है। समाधि वह अवस्था है जिसमें केवल ध्येय ही प्रकाशित रहता है और ध्यान व ध्येय की एकता होने पर ध्याता भी ध्येयाकार हो जाता है। अर्थात् सभी सङ्कल्पों का लोप हो जाय तथा जीवात्मा एवं परमात्मा में त्रिपुटी (ध्याता+ध्यान+ध्येय) का अनिर्वचनीय अद्वैत में विलय होने से कैवल्य या मोक्ष है। यही योग का परम लक्ष्य है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने 3/198 से 3/204 तक आसन से लेकर ध्यान, धारणा एवं समाधि का उल्लेख किया है। योग सिद्ध हो जाने पर देह का त्यागकर योगी अमृत्व, ब्रह्मत्व की प्राप्ति करता है। इससे योगी योगसिद्धि प्राप्त कर लेता है तथा मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। जब समाधि तक सभी अनुशासन सम्बन्धी क्रियाएँ हो जाती है और सत्त्व, रज, तम का अन्तर समाप्त हो जाता है, वही कैवल्य है। योग का अन्तिम आदर्श है जीवन्मुक्ति हो जाना।

निष्कर्ष

अतः योग व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास का आध्यात्मिक स्तर है। डा. काणे के अनुसार "इसमें मानव मनोविज्ञान की झलक है, जिसकी विधियों, प्रणालियों में आज के मनोविश्लेषण, मानस चिकित्साशास्त्र, मानस नाट्य, नैतिक शिक्षा एवं चरित्र शिक्षा की सभी सारगर्भित विधियाँ समाहित हो जाती है।"[42] मनुस्मृति 12/83 में मोक्ष के छः साधनों में तप, योग को माना गया है।[43] उसी तरह याज्ञवल्क्य 1/8 में भी तप, दम को मोक्ष का साधन बताया गया है। अतः योग आत्म साक्षात्कार (मोक्ष) का एक उत्तम साधन, लेकिन सबसे उत्तम है—आत्म ज्ञान । आत्मज्ञानी तो ब्रह्मलोक में ब्रह्मीभूत हो जाता है।[44] इसलिए योगाभ्यास मार्ग निःश्रेयस (मोक्ष) का एक मार्ग है। इससे इन्द्रिय सुख एवं अविद्यामूलक जीवन से छुटकारा मिलता है। यदि यह मार्ग कठिन हो तो योगदर्शन ने ईश्वर प्रणिधान तत्त्व को भी बताया है उसका अनुसरण भी किया जा सकता है।[45] अतः योग दर्शन गीता दर्शन (13/13-17) के निकट स्मृति ग्रन्थ कर्मयोग एवं भक्तियोग का सम्पादन करता है।

सन्दर्भ-संकेत

1. डॉ. काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास,* पंचम भाग, अध्याय 32. योग एवं धर्मशास्त्र नाम से विवेचित है
2. *गीता प्रबोधनी-* ज्ञानयोग कर्मयोग (3/3) भक्तियोग (14/26) ध्यान योग (8/8)
3. *गीता प्रबोधनी-* 3/13 गीता प्रेस की गीता प्रबोधनी में स्वामी राम सुखदास ने पुस्तक के सबसे अन्त में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, श्रीभगवन नाम से एक चार्ट दिया है, उसे देख सकते हैं।
4. *योग तत्त्व उपनिषद्* एवं *शिव संहिता* में उल्लिखित।
5. डॉ. काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास,* प्रथम भाग, पृष्ठ 53
6. *याज्ञवल्क्य स्मृति-* 1/1-2
7. योगः समाधिः, चन्द्रधर शर्मा, *भारतीय दर्शन,* पृष्ठ 159
8. *याज्ञवल्क्य स्मृतिः-* 1/8
9. *याज्ञवल्क्य स्मृतिः-* 1/26-27
10. *याज्ञवल्क्य स्मृतिः-* 1/8. 3/62, *मनुस्मृति-* 12/12-12-13. 18
11. *याज्ञवल्क्य स्मृतिः-* 3/64
12. *मनुस्मृति-* 12/18, *याज्ञवल्क्य स्मृति-*3/202-3
13. डॉ. काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास,* पंचम भाग, पृष्ठ 265
14. *मनुस्मृति-* 1/25
15. *मनुस्मृति-* 11/233-244 तक तप या तपस्या की विवेचना की गयी है।
16. *याज्ञवल्क्य स्मृति-* 1/198-202 में दान प्रकरण में तप व विद्या की महत्ता दी है।
17. *याज्ञवल्क्य स्मृति-* 1/101

18. *मनुस्मृति*-2/107
19. *मनुस्मृति*- 2/107 एवं *याज्ञवल्क्य स्मृति* 1/48
20. *स्वाध्याय*, शिक्षण विधि के रूप में अध्याय 7/9 में पीछे कर चुके है।
21. डॉ. काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास,* पञ्चम भाग, पृष्ठ 263-65 में ईश्वरप्राणिधान का विवरण है।
22. मनुस्मृति- 285-87 में मानसजप को सबसे महान् बताया गया है।
23. डॉ. काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास,* पञ्चम भाग, पृष्ठ 269
24. *योगसूत्र*-2/32
25. *मनुस्मृति*- 4/204
26. *गीता* (6/11). *रघुवंश* (13/52) *हठयोगप्रदीपिका, शिव संहिता* का अध्ययन किया जा सकता है।
27. *मनुस्मृति*-2/75
28. *याज्ञवल्क्य स्मृति*- 3/118-20
29. डॉ. काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास,* पञ्चम भाग, पृष्ठ 277
30. *मनुस्मति* अध्याय- 5, *याज्ञवल्क्य स्मृति* प्रकरण-7 के सभी भक्ष्याभक्ष्य का उल्लेख विषय को बोझिल बना देगा इसलिए संकेत मात्र का सहारा लेना चाहिए।
31. *मनुस्मृति*- 6/70-71
32. *मनुस्मृति*- 11/199-201
33. *मनुस्मृति*- 11/248
34. पतञ्जलि ने श्वास प्रश्वास, गतिविच्छेद शब्द का ही प्रयोग किया (2/50) जो बाद में उक्त नाम दिया गया।
35. *याज्ञवल्क्य स्मृति*- 3/305
36. *याज्ञवल्क्य स्मृति*-2/203
37. *याज्ञवल्क्य स्मृति*-3/203
38. *मनुस्मृति* एवं *याज्ञवल्क्य स्मृति* के इन सम्बद्ध अध्यायों में इन्द्रिय विवरण दिया गया है।
39. *गीता*- 18/52
40. *वृ0 उ0* 2/4
41. *माण्डूक्योपनिषद*- 2/2/6
42. डॉ. काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास,* पञ्चम भाग, पृष्ठ 295
43. *मनुस्मृति*- 12/83 में मोक्ष के छः साधन है—वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, एवं गुरु की सेवा।
44. *मनुस्मृति*- 12/85 एवं याज्ञवल्क्य-3/190-197
45. योग दर्शन में सांख्य के 25 तत्वों के साथ-साथ 26वें तत्त्व ईश्वर की सत्ता को भी माना इसलिए इसे सेश्वर सांख्य भी कहते है- चन्द्रधर शर्मा, *भारतीय दर्शन*, पृष्ठ 158

सन्दर्भ ग्रथ सूची

1. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, (2014). *प्रचीन भारतीय शिक्षण पद्धति*, अनुराग प्रकाशन वराणसी।
2. मिश्र, जयशंकर, (1974), *प्राचीन भारत का समाजिक इतिहास*, बिहार हिन्दी, ग्रन्थ अकादमी, पटना।
3. *मनुस्मृति* (2017) (हिन्दी व्याख्या अनुवाद) शिवराज आचार्य, चौखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी।
4. काणे, पी. वी. (1992) *धर्मशास्त्र का इतिहास*, प्रथम भाग, उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
5. मुखर्जी, राधाकुमुद (2014) *हिन्दू सभ्यता,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. *बीस स्मृतियाँ* (1993) हिन्दी व्याख्या श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान वेदनगर बरेली।
7. शुक्ला, मीना. (2000) *स्मृति ग्रन्थों में वर्णित समाज*, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली।
8. *याज्ञवल्क्य स्मृति* (2017) हिन्दी व्याख्या अनुवाद गंगा सागर राय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई दिल्ली।
9. नारंग, मंजू (2019) *मनुस्मृति का समीक्षात्मक अध्ययन*, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली।
10. *ईशादि नौ उपनिषद्* – (व्याख्या) हरिकृष्ण दास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2074
11. *ईशावास्योपनिषद्* – (व्याख्या) हरिकृष्ण दास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2074
12. *उपनिषद् भाष्य*– (भाष्यकार, संपादक) आचार्य राजवीर शास्त्री, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, नई दिल्ली. 2017 ई.
13. *वृहदारण्यकोपनिषद्*– गीता प्रेस गोरखपुर
14. *मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति का तुलनात्मक अध्ययन*– सतीश चन्द्र शर्मा, http://hd1.handle.net10603/109468
15. *याज्ञवल्क्य स्मृति का समीक्षात्मक अध्ययन*– ऊषा गुप्ता, 1998 ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली।
16. शर्मा, चन्द्रधर 1996 – *भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
17. सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद (1995)– *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स, प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

असिस्टेंट प्रोफेसर
भुवन मालती शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय,
मोतिहारी-बिहार
Email id-shuklamk78@gmail.com
Mobile no.7309311231

गायत्री मन्त्र से आध्यात्मिक उन्नति

नवनीत कुमार बाजपेयी

योग–दर्शन में योगसाधना से व्यक्ति द्वारा विभिन्न उपलब्धियों को प्राप्त करते हुए आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने का वर्णन मिलता है। गायत्री मन्त्र की साधना से भी इन उपलब्धियों को प्राप्त किया जा सकता है एवं इसका विवरण तत्संबंधित विभिन्न ग्रंथों में उपलब्ध है। इनमें से कुछ का वर्णन आगे दिया जा रहा है—

(क) मानसिक प्रगतिः—योग-दर्शन में सर्वांगासन, शीर्षासन, सिद्धासन, पद्मासन, कपालभाति प्राणायाम, नाड़ीशोधन प्राणायाम, शाम्भवी मुद्रा आदि के नियमित अभ्यास से मस्तिष्क की क्षमता का वर्धन, मानसिक स्थिरता, मन की शान्ति, एकाग्रता, क्रोध एवं चिन्ता – मुक्ति आदि लाभ प्राप्त होने का वर्णन है।

गायत्री मन्त्र से मानसिक प्रगति

गायत्री मन्त्र को मानसिक प्रगति हेतु विशेष परिणाम प्रदान करने वाला कहा गया है। इसके बारे में कई उल्लेख प्राचीन एवं आधुनिक ग्रंथों तथा महापुरुषों की वाणी में मिलते हैं—

गायत्री तन्त्र में नारद जी कहते हैं—

पयो हुत्वाप्नुयान्मेधामाज्यं बुद्धिमवाप्नुयात्।
पीत्वाभिमन्त्र्य सुरसं ब्राह्मया मेधामवाप्नुयात्।। — *गायत्री तन्त्र*, 58

अर्थात्, गायत्री मन्त्र के साथ दूध का हवन करने से तथा घृत की आहुतियां देने से बुद्धि-वृद्धि होती है। मंत्रोच्चारण करते हुए ब्राह्मी के रस का पान करने से चिरग्राहिणी बुद्धि होती है।

एतया ज्ञातया सर्वं वाङ्मयं विदितं भवेत्।
उपासितं भवेत्तेन विश्वं भुवनसप्तकम्।। — *योगी याज्ञवल्क्य*, 4.70

अर्थात्, गायत्री के जान लेने से समस्त विद्याओं का ज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार उसने केवल गायत्री की ही उपासना नहीं की अपितु सात लोकों की उपासना कर ली।

राजा जन्मेजय के प्रश्न और भगवान् व्यास के उत्तर के रूप में प्रस्तुत निम्न संवाद गायत्री द्वारा प्रदान की जाने वाली मानसिक सामर्थ्य के बारे में बताता है—

बीजोच्चारणतो देव्या विद्या प्रस्फुरिताऽखिला।
बाल्मीकेषु यथा पूर्वं तथा स ह्यभवत्कविः।।

अर्थात्—सावित्री भगवती के केवल बीज मात्र के उच्चारण करने से बाल्मीकि की समस्त विद्याएँ प्रस्फुरित हो गई थीं और सर्वप्रथम महान् कवि हो गए थे।

ऋषि वशिष्ठ जी का मत है कि मंदमति और कुमार्गगामी भी गायत्री के प्रभाव से उच्च पद को प्राप्त करते हैं। स्वामी शिवानन्द जी कहते हैं कि गायत्री जप से शरीर निरोग रहता है, स्वभाव में नम्रता आती है, बुद्धि सूक्ष्म होती है, दूरदर्शिता बढ़ती है और मानसिक शक्तियों का विकास होता है।

आर्य समाज के राष्ट्रीय अध्यक्ष के पद पर रहे महान् संन्यासी महात्मा आनन्द स्वामी (1882-1977) ने अपनी जीवन-कथा *'आनन्द गायत्री कथा'* में गायत्री-मन्त्र की महिमा के बारे मे लिखा है कि बचपन में वह बहुत ही बुद्धू थे। इस कमजोरी के कारण अध्यापक – गण उन्हें घंटों बेंच पर खड़ा कर देते थे और यह क्रम लगभग प्रत्येक विषय के घंटे में चलता रहता था। आर्य समाज के स्वामी नित्यानंद ने उन्हें एक मुलाकात में बचपन में ही गायत्री मन्त्र का जप नित्य ब्राह्म मुहूर्त में करने के लिए कहा। इसके अभ्यास से मात्र 5–6 माह में ही उनकी बुद्धि अति तीव्र हो गई और उनके परीक्षाओं में अच्छे अंक आने लगे। आगे भी उन्होंने जीवनपर्यंत अपनी प्रगति का श्रेय गायत्री मन्त्र को दिया है।

'माधव–निदान' आयुर्वेद में रोग निदान संबंधी श्रेष्ठ ग्रंथ कहा जाता है। इस ग्रंथ के रचयिता श्री माधवाचार्य जी महाराज की शिक्षा सामान्य थी। गायत्री उपासना से ही उनकी प्रगति हुई। फलस्वरूप उन्होंने 'माधव – निदान' ग्रंथ की रचना की।

स्वामी विवेकानन्द का कथन है—गायत्री सद्बुद्धि का मन्त्र है। इसलिए उन्होंने उसे मंत्रों का मुकुटमणि कहा है। आर्य समाज के संस्थापक श्री स्वामी दयानन्द जी के गुरु प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद सरस्वती ने बड़ी तपश्चर्यापूर्वक गंगा तीर पर रहकर तीन वर्ष तक गायत्री जप किया था। इस अंधे सन्यासी ने अपने तपोबल से अगाध विद्या और अलौकिक ब्रह्मतेज प्राप्त किया था। उन्हीं की दीक्षा स्वामी दयानन्द के लिए वरदान बनी। आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार, गायत्री सद्बुद्धिदायक मन्त्र है। वह साधक के मन को अंतःकरण को, मस्तिष्क को, विचारों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। मानसिक क्षेत्र में सदगुणों के बढ़ जाने के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, स्वार्थ, आलस्य, व्यसन, व्यभिचार, छल, झूठ, पाखण्ड, चिंता, भय आदि अनेकों दोष कम होने लगते हैं। इन दोषों की कमी से संयम, नियम, त्याग, समता, निरहंकारिता, सादगी, सत्यनिष्ठा, निर्भयता, निरालस्यता, विवेक, साहस, प्रेम आदि सदगुण स्वतः ही बढ़ने लगते हैं। इस मानसिक कायाकल्प की वजह से दैनिक जीवन में नित्य आते रहने वाले अधिकाधिक दुखों का सहज ही समाधान हो जाता है। साथ ही, गायत्री मन्त्र न केवल साधक की बुद्धि-वृद्धि, मानसिक एकाग्रता, चिंतन-शक्ति, स्मरण-शक्ति आदि पर सकारात्मक प्रभाव डालता है वहीं तनाव, चिंता विकृति, कुण्ठा आदि मनोरोगों को दूर करता है।

(ख) ब्रह्म से एकत्व—*घेरण्ड संहिता* के अनुसार, योग के नियमित अभ्यास से साधक समाधियोग को प्राप्त कर ब्रह्म से एकता को स्थापित कर लेता है (सप्तमोपदेशः/4)। इस प्रकार साधक योग के उच्चतम शिखर को प्राप्त करता है।

गायत्री मन्त्र द्वारा ब्रह्म से एकत्व

भारतीय आर्ष ग्रंथों के अनुसार, गायत्री मन्त्र की साधना से भी साधक ब्रह्म से एकता स्थापित कर सकता है। निम्नवर्णित उद्धरणों में गायत्री को उच्चतम पदवी देते हुए उसे ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के समकक्ष गया है अर्थात् गायत्री मन्त्र की साधना से ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त किया जा सकता है—

भूर्भुवः स्वरिति चैव चतुर्विंशाक्षरा तथा।
गायत्री चतुरो वेदा ओंकारः सर्वमेव तु।। — *बृहद् योगी याज्ञवल्क्य स्मृति 2/66*

अर्थात्, भूर्भुवः स्वः यह तीन महाव्याहृतियां, चौबीस अक्षर वाली गायत्री तथा चारों वेद निसंदेह ॐ (ब्रह्म) स्वरूप हैं।

गायत्री वा इदं सर्वम्। (*नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्* 4/3)

अर्थात्, यह समस्त जो कुछ है, गायत्री स्वरूप है।

ब्रह्म गायत्रीति – ब्रह्म वै गायत्री। (*शतपथ ब्राह्मण* 8/5/3/7, *ऐतरेय ब्राह्मण* 17/5)

अर्थात्, ब्रह्म ही गायत्री है, गायत्री ही ब्रह्म है।

निम्नांकित उद्धरणों में गायत्री मन्त्र की साधना से योग का उच्चतम लक्ष्य अर्थात् ब्रह्मतेज प्राप्त होने की बात कही गयी है—

परब्रह्मस्वरूपा च निर्वाणपददायिनी।
ब्रह्मतेजोमयी शक्तिस्तदधिष्ठातृ देवता।। — *देवी भागवत स्कंध* 9 अ. 1/42

अर्थात्, गायत्री मोक्ष देने वाली, परमात्मस्वरूप और ब्रह्मतेज से युक्त शक्ति है और मंत्रों की अधिष्ठात्री है।

आयुः प्राणं प्रजां पशु कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं महम दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।।
— *अथर्ववेद*, 19.71.1

अर्थात्, आप हमें आयु, प्राण, प्रजा, शक्ति, कीर्ति, धन एवं ब्रह्मवर्चस प्रदान करते हुए ब्रह्मलोक को प्रस्थान करें। 'ब्रह्मवर्चस' से यहां तात्पर्य ब्रह्म के तेज से है। जब व्यक्ति अध्यात्म के शिखर पर पहुंच जाता है तो वह उस परमब्रह्म के समकक्ष होकर उसके तेज को प्राप्त कर लेता है।

उक्त उद्धरणों से पता चलता है कि गायत्री मन्त्र की साधना से 'ब्रह्मवर्चस'-प्राप्ति के चरम योगफल को प्राप्त किया जा सकता है।

(ग) योग-विभूतियों एवं कैवल्य की प्राप्ति—महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योगसाधना से योगी को विभिन्न योग-विभूतियों एवं तत्पश्चात् कैवल्य की प्राप्ति होती है अर्थात् वह योगफल के रूप में विभिन्न सिद्धियों को प्राप्त करते हुए जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है। (*पातंजल योगसूत्र*/विभूतिपाद, कैवल्यपाद)

गायत्री मन्त्र द्वारा योग-विभूतियों एवं कैवल्य की प्राप्ति

विभिन्न योगग्रंथों की उक्तियों के अनुसार गायत्री अपने नैष्ठिक साधक को योग-विभूतियां एवं कैवल्य प्रदान करती है। निम्न उद्धरण इसकी साक्षी हैं—

स्वामी रामकृष्ण परमहंस का उपदेश है—गायत्री का जप करने से बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ मिल जाती हैं। प्रकाश सहित सत्यानंद स्वरूप ब्रह्म को हृदय में और सूर्यमण्डल में ध्यान करता हुआ, कामना रहित हो गायत्री मन्त्र को यदि जपे, तो अविलंब संसार के आवागमन से छूट जाता है—विश्वामित्र। यह गायत्री देवी समस्त प्राणियों में आत्मा रूप में विराजमान है, गायत्री मोक्ष का मूल कारण तथा संदेह रहित मुक्ति का स्थान है—ऋषि शृंग। उक्त उद्धरणों के माध्यम से देखा जा सकता है कि गायत्री मन्त्र की साधना से विभिन्न सिद्धियों के साथ-साथ मोक्ष की भी प्राप्ति की जा सकती है।

(घ) आत्मसाक्षात्कार: योग-दर्शन के अनुसार, योग का अर्थ व्यष्टि चेतना का समष्टि चेतना में विलीन हो जाना है अथवा ज्ञानयोग में इसे अपने वास्तविक मूलस्वरूप का यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। इससे आत्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है अर्थात् व्यक्ति अपनी आत्मा की शक्ति को पहचान लेता है।

गायत्री मन्त्र द्वारा आत्मसाक्षात्कार

वर्तमान काल में अनेक महापुरुषों ने यह स्वीकारा है कि गायत्री मन्त्र न केवल वैयक्तिक रूप से बल्कि सामूहिक रूप से इस शक्ति को जाग्रत् करता है—

महात्मा गांधी कहते हैं—गायत्री मन्त्र का निरंतर जप रोगियों को अच्छा करने और आत्मा की उन्नति के लिए उपयोगी है। गायत्री का स्थिर चित्त और शांत हृदय से किया हुआ जप आपत्तिकाल में संकटों को दूर करने का प्रभाव रखता है। लोकमान्य तिलक के अनुसार, जिस बहुमुखी दासता के बंधनों में भारतीय प्रजा जकड़ी हुई है, उसके लिए आत्मा के अंदर प्रकाश उत्पन्न होना चाहिए, जिससे सत् और असत् का विवेक हो। कुमार्ग को छोड़कर श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिले, गायत्री मन्त्र में यही भावना विद्यमान है।

महामना मदन मोहन मालवीय जी ने कहा था – ऋषियों ने जो अमूल्य रत्न हमे दिये हैं, उनमें से एक अनुपम रत्न गायत्री है। गायत्री से बुद्धि पवित्र होती है। ईश्वर का प्रकाश आत्मा में आता है। इस प्रकाश से असंख्य आत्माओं को भव-बंधन से त्राण मिलता है। गायत्री में ईश्वर परायणता के भाव उत्पन्न करने की शक्ति है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं कि भारतवर्ष को जगाने वाला जो मन्त्र है वह इतना सरल है कि एक ही श्वास में उसका उच्चारण किया जा सकता है। वह है – गायत्री मन्त्र। योगी अरविंद ने बताया कि गायत्री में ऐसी शक्ति सन्निहित है जो महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है।

(ङ) निरोगिता—योगाभ्यास का सर्वविदित परिणाम है कि इसके द्वारा समस्त प्रकार की व्याधियों से मुक्ति प्राप्त होती है।

गायत्री मन्त्र द्वारा निरोगिता

इसी प्रकार गायत्री पंचांग के अनुसार गायत्री साधना से निरोगिता प्राप्त होती है –

मोक्षाय च मुमुक्षूणां श्रीकामानां श्रिये तथा।
विजयाय युयुत्सूनां व्याधितानामरोगकृते।।

अर्थात्, मुमुक्षुओं को मोक्ष मिलेगा, श्री कामियों को सम्पत्ति प्राप्त होगी, युद्धेच्छुओं को विजय तथा व्याधिग्रस्त को निरोगिता प्राप्त होगी।

(च) युगानुकूल उपकरण—वर्तमान समय में आधि-व्याधि निवारण हेतु योग की स्वीकार्यता बढ़ी है। इसके बावजूद इसकी विभिन्न शाखाओं में कालचयन, वातावरण, स्थान, संसाधन, जटिल प्रक्रिया आदि से संबंधित नियमों के चलते वे पूर्णतया युगोपयोगी नहीं सिद्ध हो पा रही हैं।

गायत्री मन्त्र, एक युगानुकूल साधना

गायत्री मन्त्र इस संबंध में सर्वोत्तम युगानुकूल साधना है। स्वामी भूतेशानन्द के अनुसार, ठाकुर रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं में दो तत्त्व रहते हैं-एक तो सनातन तत्वों को प्राणवन्त करना और उनको युगोपयोगी बनाना। गायत्री मन्त्र को उन्होंने युगानुकूल साधना बताया है। इस संदर्भ में वे कहते हैं-"देखो, कलियुग के लिए नारदीया भक्ति है। आजकल मनुष्य के पास इतना समय और सामर्थ्य नहीं है कि वह योग-यज्ञ या सन्ध्या-वन्दनादि में इतना लंबा समय बिता सके। अब तो केवल गायत्रीजप करने से होगा। सन्ध्या का लय गायत्री में होता है और गायत्री का लय ऊँकार में।" यहाँ वे स्पष्ट कह रहे हैं कि समय एवं सामर्थ्यानुसार अब केवल गायत्री जप करने से ही होगा। गायत्री की युगानुकूलता के बारे में निर्देशित करता ठाकुर रामकृष्ण परमहंस का यह वचनामृत स्वतःसिद्ध, स्वतःव्याख्यात्मक है अतः बिना किसी संदेह के अनुकरणीय है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त उद्धरणों, तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकने में समर्थ हैं कि गायत्री सर्वप्रयोजन सिद्धिदायी है। यह न केवल एक ऐसी शक्ति है जो विभिन्न यौगिक उपलब्धियाँ प्रदान करने में न केवल समर्थ है बल्कि साधक की उत्कंठा, प्रयास, पवित्रता, आस्था के आधार पर वह उसे इन शक्तियों के चरम स्तर तक पहुँचा सकने में भी सामर्थ्यवान है। इस गायत्री मन्त्रजप की साधना के माध्यम से साधक को न केवल योगग्रंथ वर्णित विभिन्न सिद्धियाँ एवं यौगिक विभूतियाँ ही प्राप्त होती हैं बल्कि वह सतत आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त करता हुआ चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है एवं अंततः ब्रह्म से एकत्व प्राप्त कर स्थित होता है। साथ ही, यह भी देखा जा सकता है कि गायत्री मन्त्रजप की सामान्य दैनिक साधना में किसी जटिल उपकरण या विधि को अपनाए जाने की अनिवार्यता नहीं है अतएव वर्तमान की दौड़भाग युक्त व्यस्ततम जीवनचर्या में यह सरलतः व्यवहार में लायी जा सकती है जैसा कि ठाकुर रामकृष्ण परमहंस की उल्लिखित स्पष्टोक्ति में हमें देखने को मिला। अतः गायत्री मन्त्र की सर्वप्रदायी सामर्थ्य एवं इसकी दैनिक साधना की सरल, सुगम प्रक्रिया वह दो

विशिष्ट विशेषताएँ हैं जो इसे युगानुकूल सर्वोत्तम उपकरण सिद्ध करती है तथा जिसे अपनाकर व्यक्ति अपने गृहस्थाश्रम की जीवनचर्या को सुचारू रूप से चलाता हुआ भी आध्यात्मिक उन्नति सुनिश्चित कर सकता है। इसलिए, वर्तमान की व्यस्ततम दिनचर्या में आध्यात्मिक उन्नति की अपेक्षा रखने वाले साधक विभिन्न साधनाएँ करने की अपेक्षा गायत्री साधना का एकमात्र एवं सरलतम मार्ग अपनाकर अपना मार्ग सहज ही प्रशस्त कर सकते हैं।

इस शोधपत्र में गायत्री मन्त्रजप की कुछेक उपलब्धियों को ही दर्शाया गया है, अतः विस्तृत शोध के तहत इन उपलब्धियों पर सविस्तार चर्चा की जा सकती है। साथ ही यह भी एक सर्वविदित तथ्य है कि गायत्री एक महाशक्ति है। इसकी सामर्थ्य का वर्णन मनुष्यमात्र के लिए संभव नहीं है, अतः उससे संबंधित बहुत कुछ अन्वेषित करने को शेष है। अतः भविष्य में इससे संबंधित कई क्षेत्रों को शोध हेतु लिया जा सकता है जिनके आधार पर गायत्री की गूढ़ शक्ति को समझा जा सके, जैसे – गायत्री मन्त्र साधना के माध्यम से किन्हीं विशेष बातों आदि को याद रखने की सामर्थ्य प्राप्त करना, किसी विशेष सामर्थ्य या विद्या आदि की प्राप्ति, गूढ़ चिंतन की सामर्थ्य प्राप्त करना, विशेष एकाग्रता प्राप्त करना, किसी यौगिक चक्र एवं ग्रंथि विशेष के जागरण से संबंधित साधना विवरण प्राप्त करना।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. प्रणव पण्ड्या, 2011, *योग के वैज्ञानिक प्रयोग* (शोध एवं प्रकाशन विभाग, देव संस्कृति विश्वविद्यालय-249411)
2. हरिकृष्णदास गोयन्दका (टीकाकार), पुनः, 2013, पातंजल योगदर्शन (गीताप्रेस, गोरखपुर -273005)
3. मानव चेतना एवं योग विभाग संकाय, 2008, *योग के आधारभूत तत्त्व पाठ्य./मन्त्रयोग* (देव संस्कृति विश्वविद्यालय-249411)
4. पं श्रीराम शर्मा आचार्य, पुनः, 1990, *गायत्री महाविज्ञान*, भाग 1 एवं 2 (युग निर्माण योग विकास ट्रस्ट, मथुरा - 281003)
5. ब्रह्मवर्चस, 1998, *गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार* (अ. ज्यो संस्थान, मथुरा-281003)
6. स्वामी सत्यानंद सरस्वती, 2006, *आसन प्राणायाम मुद्रा बन्ध* (योग प. ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार -811201)
7. स्वामी भूतेशानन्द, 1990, *श्री रामकृष्ण वचनामृत प्रसंग* (रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर - 440012)

शोधार्थी (योग एवं मानव चेतना विभाग),
रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय,
रायसेन-464993 (म. प्र.)

Sat in *Dharma* and *Dhamma* Traditions

Dr. Saroj Kanta Kar

Abstract: There can't be a varietyregarding the verity. *Sat* (Truth / Reality) cannot be held differently as *anitya* in *Dhamma* tradition, i.e., Buddhism, and*nitya* in the *Dharma* tradition, particularly, (*Advaita*) *Vedānta*. *Sat* is primarily accessed through direct realization, while mind and language fail to convey its transcendental pristinecharacter. This incommensurability and impasse pave the way to speculation and interpretation of the *Sat*. It results in variations of views about the *Sat,* somewhere *nitya,* as inthe *Vedānta,* somewhere *anitya*, as it is read in Buddhism.

Knowing the danger of speculative metaphysics, Buddha shunned it outright and advised to relyupon direct realization. His tradition resisted interpretation and characterization of the *Sat* by negations and abstractions, like *prapañcha śūnyatā,Tathatā*, *Svalakṣaṇa*, etc., but eventually ended up with *tri svabhāva* and *tri kāya* doctrines.Through resemblance and variations in narrations, *Sat* can be seen as the same in both the traditions.

Key-Words:
Kṣaṇabhangavāda, Arthakriyākāritva, Trikālasat, Tathāgatagarbha, Hiraṇyāgarbha

Introduction:

Differences and affinities between Buddhism and (*Advaita*) Vedānta, have left humanity perplexed. The former stands for *dhamma*line, preaching everything as *anitya* in the phenomenal world and the latter representing *dharma* line expounds the transcendental sat as *nitya.* Which of the traditions express the *Sat*, the truth/reality as it is? This leads scholars to have different opinions and reactions. (a) Assuming their different origins and certain marked points of variations, some hold them diametrically

opposing to each other.[1] (b) Keeping this in view some thinkers still find some similarity, and for this, they ascribe the (*Advaita*) Vedāntist as crypto-Buddhist.[2](c) Some other groups of scholars attempt to do justice in considering that both the traditions use similar techniques but keep up their respective theses.[3] Why do we confine the similarities and differences and deductively concluded? Why don't we transcend and find out the *Sat* as reflected in their contention? An investigation to unfold the *Sat*is, perhaps, foremost. In this regard, it is primary to start with exploring the gradual departure between the realization of pure *Sat* and its expression.

Stages of Departure from the Realized *Sat*

Vedānta says Sat is that which is not obliterated in its essence (*satyaṁ avādhitaṁ*). It remains the same in all times - past, present, and future (*trikālāvādhitavyaṁ*). It does not change or deviate from its nature. The universal *Sat* is known from one of its instances as it is all pervaded, as clay in all things made up of clays. Similarly, *Sat*is pervaded everywhere as everything that is existing in different forms. The forms are only modifications(*vikāra*), like the different verbalizations (*vāchārambhaṇas*) of the same *Sat*. In this way, [one should] always comprehend the truth / reality.[4] It has also been emphasized that truth alone can exists, (not untruth)." It further said that where the objective cognition (*viṣayā buddhi*) does not deviate is truth. Where the *viṣayā* deviates is not truth.[5] Correspondingly, the *viṣayā buddhi* that deviates from the *Sat* is also not true, because whatever is expressed by the deviated speech does not exist (*asat*). Only the *Sat* can have existence, and [which is] non-existent is not *Sat*. Looking both of them the seers can see the *tattva*.[6]

The unique and objective reality looked differently as per subjective reflection on it, just like the moon is One, but its reflection in differently waving waters it was perceived variedly. Nevertheless, in deep love state, many lovers' feelingswere corroborated by the same moon. Similarly, at the certain pure state of consciousness, one could realize the same reality, which corroborated with different subjective narrations. Subjective differences arose for various factors, especially when this type of metaphysical issues issue forth from certain meditative state of realizations, and were deliberated

sometimes consistent and sometimes inconsistent with the ordinary experiences. This happened to some of the insufficient narrations of the Buddhists' and the Vedāntists' account of the *Sat*. The Buddha as well as the pioneers of Vedānta, experienced the *Sat* in a rare meditative state of mind at a higher level of consciousness that transcends the ordinary experiences, categories of mind, thoughts, and languages. They happen to expresses it descending into ordinary level, within the purview and functions of discursive thought, where concepts and words and inevitably delimited the expression of the realized *Sat*. As a result, some Vedāntic expressions looked trifled in expressing the *Sat* in the situation of neither being able to express the authentic realization of the *Sat* nor being able to stay away from expressing it. Consequently, some utterances look contradictory or meaningless from the point of view of ordinary meaningfulness and use of languages. This made the first departure from the realization effectuating difference between what was realized and how much of it wasexpressed or conveyed. The conveying itself further got tailored depending upon the appropriateness of the receivers, the audiences. This was the second departure. The Vedāntists had some selective pupils as receivers of the knowledge, who hadalso been qualified to grasp the true import of the inappropriately or poetically flow of the language of Vedāntic expressions. They were able to take up the approximate linguistic narration of the realized truth, and consider the expression as symbolic or an approximation to convey different levels of meaning, which lead them then to comprehend it intuitively and make further journey towards realizing the *Sat*. So, the Vedāntic version always narrates the *nityatā* of the transcendental *Sat* in *anityatā* of the *saṁsāra*. This had been much diluted over the vast expanse of time with prompting the *nityatā* of phenomenal individual promoting his / her self-persistence and coveted enjoyments, for which so many rituals were evolved and practiced. In this course, the culture of realization was forgotten or neglected and wrong notions of the personality as diversions of *Sat* were pervaded inappropriately giving rise to different versions of metaphysical theorizing of personality and individual existence. This marked the third departure when the Buddha appeared. Buddha never accepted this version metaphysical conceptions of *Sat* for the individual self, where the conception

of *nityatā* had been the root cause for egotism leading to all types of bondage. Instead, to cancel the root cause of egoism. He only advised to focus on the *anityatā* as it is easily evident in *samsara* and, simultaneously remained silent on the point of denying *nityatā*.[7] He taughtonly to adopt the process of realization. When some people realized the Reality or came up in the process of *arhat,* he uttered some positive words about the Truth/Reality.[8] Subsequent Buddhist scholars find themselves surrounded by the Buddha's sermons on *anitya* while simultaneously, they had their own realizations. They feel the pressing needs of propagation of the realized truth. They coined their own theories as per the time, the prevalent issues and imminent challenges before them, as per equipped-ness of pupils, and their selected mode while keeping up the marked line of the Buddha's teaching of *anitya*. This is the fourth departure from the realized *Sat*, (which is later conceptualized and disseminated). The fifth departure happened in the communication to the ordinary people as per their comprehensive capacity and state of mind. Further, the teachings were comprehended by the scholars as per their readiness and conceptualization. This was the sixth stage of departure. Next was the role of individual inclination and bent of mind towards some identity, the mark of egoistic tendency. For this, one preferred a certain tradition and becomes tradition-bound. This was the seventh stage of departure from the realized *Sat*. With all those twists in the way of dissemination, 'how could the *Sat*, remain as it was in the source? ' This happened to all the traditions that issues froth from meditations, particularly Buddhism and Vedānta. Hence, to clear out all the weeds of distorting subjective factors, the Buddha advised not to entertain speculative adventures or metaphysical theorizing, but to simply realize the reality by meditation, as he had, so that after the realization, it could be comprehended as it was and always is. It just directly journeyed to the source. Early Buddhism, like in *Visuddhismagga*, emphasizes to have the mental discipline similar to Yoga, to have the direct realization. Aśvaghoṣa taught to stick to the *Tathatā* or that-ness; Nagarjuna emphasized that *prajñāpāramitā*, the knowledge of the pristine reality, could arise only after *sarvadṛṣṭiprahāṇa*, cancellation of all conceptualization. Vedānta had the same track where the ulterior realization of *Sat* took place in a meditative

state. It, however, was taught always uncomfortably and inadequately through words and concepts, with simultaneous insistence to transcend those words and thoughts to achieve pure consciousness and the *Sat*. In its pristine pure state of realization, where no conceptualization, no words can operate, 'how can any difference be held about *Sat* as *nitya* or *anitya*? ' It cannot be so said, hence when expressed, somewhere it was said as *nityonityānāṁ* and some other *srotasaudhavat*. Whatever way it might/may be expressed, it was/is the same for all, for the *Vedāntin*s and the Buddha at the same level of experience. It was/is uniquely the same for them and indistinctively having all possibilities in itself.

***Sat*: Transcendental and Empirical**

Realization of the *Sat* is a transcendental accomplishment. It is because the *Sat* is transcendental. The transcendental *Sat* (i.e., Truth / Reality) and transcendental realization are different from experience of empirical *Sat* and empirical sense experiences. The latter is accessed with common parlance of the same experiences, categorization, and reasoning. By specific practices, these common parlancesare transcended. General mental functions are methodically directed and elevated to some ways of thinking, feeling, and intuition. Gradually, the subject-object duality is also transcended in some further higher state of the being, where even the thought does not have its play. That is how it is beyond conceptualization. This state of realization is transcendental and the realized truth/reality is also transcendental Truth / Reality, as it is beyond any categorization, time and space. When this a-categorized is attempted to be approximately clothed with categories of thought, it is only approximately stated for example 'all possible state' of the *Sat* like omnipotent, omnipresent, etc. Some similar narrations of fundamental particles, laws are also available in the sciences now a day, which mark the departure from the empirical and belong to the fundamental or transcendental, which are objectively interlinked with the empirical reality.

The realization of transcendental *Sat* is attempted to be conveyed through and in contrast with the empirical *sat*.[9] The former and the latter are two aspects of the same reality. The former is realized in a specific intuitive or yogic trance and is beyond the empirical mode of experience, thoughts,

and languages. The latter, however, is amenable through ordinary sensible experiences, thoughts, and languages. The empirical is more general and widely accessible and hence, is the first gate to the *Sat/ sat*. The empirical is employed for transcendental knowledge. This is necessitated for dissemination and promulgation of *Sat* as the higher or deeper *Sat* of the empirical *sat*. In empirical mode, the conceptual limitations and empirical differential factors crept in.Here,the empirical subjective factors[10] that carry subjective differences make up individual personal distinctions with the persons' cognitive, conative and emotive functions. These affect the conception and expression of *Sat*. As the original realization of *Sa t*progressively vary from level to level, it gets increasingly distorted or colored with personal ingenuity and creativity, or disfigured for incapacity, understated or magnified. Ultimately all conceptions and expressions of *Sat* happen to be only approximate or symbolic ones. For the same reason, it gets further downgraded in quality by the receivers' subjective equipment. The loss of originality would only be protected by the *āpta puruṣas*, distinctly assured personalities, who not only learn on but also realize the *Sat*. When the *Sat* is realized progressively, the elements or characteristics of *Sat*, i.e., objective factors at the root of conceptualization. The subjective factors, get gradually eliminatemaking the pure realization stand out alone which is the same at the heart of all descriptions.[11] This can be assured if the levels of realizations are same, that is to say, at the transcendental level. This way of understanding also leads to establishing that transcendental *Sat*as the same where its empirical, conceptual, as well as expressive versions, are bound to be different. Thus, if transcendental sameness of *Sat* is accepted, empirical differences regarding it by the people has to be accepted. This makes the two-tier theory, which is accepted as two levels – transcendental or *pāramārthika Sat* and the empirical or *vyāvahārikasat* in both the Buddhism and Vedānta. These two levels correspond to the *nitya* - *anitya* debates as in the following.

Nitya and *Anitya* of *Sat* in Buddhism and Vedānta

Both Buddhism and Vedānta seem to take the same positions regarding the conception of *nitya* and *anitya* about transcendental *Sat* and empirical

*Sat,*respectively. This may be seen in the expressive words as well as by analysis. From the side of the Buddhism, *anitya*(or *anicca* in *Pāli*) is one of the three *lakṣaṇas* of phenomenal reality or *sat*. (i.a) Buddha says, *Sabbe saṅkhārā aniccā*.[12] The word '*saṅkhārā'* or *saṁskārāh* strictly means 'follow up impressions or formations' of actions. It refers to the impressions, inclination that is carried by the consciousness stream making the personand his psyche following his / her actions. This strict sense of the *Pāli* word "*saṅkhārā*" from *Sānskrit "Saṁskārāḥ"*, means traces left by something that gets increased by itself or with some other things, and it is used for any formation made by putting many things together. In Buddhism, it is mostly used for mental or psychic formations and phenomena, just as *saṁskāra skandha*, which are *anitya*. In an extended sense, it is applied to all things formed, grouped, constituted, compounded, composited or integrated, which are *anitya*, as they get disintegrated. So, mental or non-mental, i.e., material, all composited phenomena are impermanent.[13] (i.b) To quote him further, *Aniccā vata saṅkhārā — uppāda vyaya dhammino; Uppajjitvā nirujjhanti — tesāṁ vūpaśamo sukho,*[14] i.e., 'all 'compounded things that come into being and pass away are impermanent. Relief from them is blissful. (i.c) Advising in this way he allows the monks to practice meditation on *anitya* to get rid of the conception of permanence and that of the ego-consciousness.He says, "A farmer, as he plows, cuts through all the rootlets. Similarly, by frequent practice of impermanence, [one] eradicates all corporeal passion, eliminates the egotism, sense of "I am."[15]*Anitya* is practiced as a theme of the skillful method (*upāya kauśaḷa*) for contemplation, to get rid of egotism.[16]

What about the non-composited things in the Buddhism? The simple and non-composited four elements, like atoms of Earth, Water, Fire, and Air do not decay or get converted to any other thing. So, in that form and at that level they are *nitya*. Similarly, *Ākāśa* is *nitya*, as it does not have any part or form to be modified. *Nirodha* or *nirvāṇa* can not be said as *nitya* or *anitya*. Buddhism accepts *nitya* in some cases logically and explicitly. *Anityatā* in the Buddhism is understood in terms of processes, functionality, integration – disintegration, cause-effect, motion of something in space and time, phenomenal appearance or happening, changes of quality, quantity, and

forms, etc. These concepts and functions do not apply to the simplest non-composited things, like elements, *Ākāśa*, and *nirodha* or *nirvāṇa*. Somewhere it is not applicable logically. For these reasons, the early Buddhism can be said to accept the *nityatā*. Latter conceptions, like *Tathatā, Tattva,* and *Ālayavijñāna*, different Buddhas as in Tantric Buddhism and the sutra literature assert that *nityatā* is not antithetic to Buddhism as far as the reality is concerned, and it is accepted directly or indirectly.

The Vedānta or any other philosophy, does not deny that the phenomenal world is changing with arising and decaying, originating and passing away. '*Jagat'*and '*saṁsāra'* as different words for the phenomenal world connotes that it is a continuous activity, (*yaṁ gacchati iti jagat, saṁ ssarati iti saṁsāra*), it is not constant, and therefore nothing is permanent as phenomenal world. Accepting the phenomenal world as impermanent, Vedānta always finds *nitya* in its background. Just opposite to the Buddhism Vedānta holds that who sees *nitya* in *anitya* gets the highest deliverance. In its words, all are enveloped by the lord, the Brahman, who is eternal. By that knowledge, whatever is approved by him one can enjoy the world without covetousness.[17] Again, it is said that who, by perceiving the eternal (basis) in non-eternal, consciousness (as basis) in the unconscious as the essence of the self, leaves all desires and feels eternal peace.[18]

Both the Buddha and Vedānta point to the impermanence of phenomena with a little methodological difference. The difference between them is that while Buddha's advice is pragmatic for the purpose for getting rid of the notion of permanence so that one can get rid of desire and egotism, the Vedānta says that one can see the permanent essence in the impermanence and then get rid of desire and egotism and realize peace. Both the Vedānta and Buddha are same here regarding impermanence of the phenomena, but about the permanence the former is expressively emphatic and the latter withdraws from any talk of them explicitly. *Anitya* is practiced as a subject of contemplation, for meditative purpose of getting rid of egotism.[19]

(ii.a) *Anitya* is also understood in reference to *pratītyasamutpāda. Pratīityasamutpāda* says: *Imasmiṁ sati idaṁ hoti, imass' uppādā, idaṁ uppajjati. Imasmiṁ asati, idaṁ na hoti, imassa nirodhāt idaṁ nirujjhati*.[20]

This being there / existing, that comes into being/exist, when this arises, that arises. This being not there / not existing, that does not come into being / exist, when this ceases to be/exist, that also ceases to be/exist. Put simply, when this exists, that comes to be. With arising of this, that arises. When this does not exist, that does not come to be as well. With the cessation of this, that also ceases. In this way, it is understood as dependent or relational or conditional existing, arising and ceasing.

From the Vedāntist point of view, *pratītyasamutpāda* may not be objected as it does not say *anityatā* in transcendental level. Something is giving rise to or appearing as another in the cause-effect process or order – it is an empirical truth. In this world phenomenon, there is no discontinuity of the potential or essential nature of cause, and there is also no continuity of the cause as it is. Intellectually the inherited causal conditionality, identity, and continuity can be assumed in the effects that have taken chemical changes in the processes to become effects. Nevertheless, the effect is inherently *nitya* in the cause, and depending on the particular cases, in some sense or other, the cause is either *nitya* in the effect, as gold in the golden ornament or *anitya*, as butter in the milk and its subsequent form of curd or *nitya* in *anitya* as medicinal property in the herbs. Thus, from the Buddhist point of view, *pratītyasamutpāda* establishes the *anityatā*, but from the Vedāntist point of view, it conveys both *nityatā* of causal reminiscence or essence in the effect and *anityatā* of the phenomenal appearance of the effect.

(ii.b) *Anitya* or impermanence is further worded with *arthakriyākāritva* and then with *kṣaṇabhaṅgavāda*. The *Abhidharma* mentions, "…a day has six thousand four hundred million ninety-nine thousand nine hundred eighty moments (*kṣaṇa*s), and the five *skandhas* or aggregate of being are repeatedly produced and destroyed in every *kṣaṇa*."[21] Buddha says though the body of the person is seen to continue for years, but that which is called mind, thought or consciousness remains rising and ceasing continuously throughout day and night.[22]The changes in mental phenomena somehow approves *kṣaṇabhangavāda.* It was mostly asserted with *arthakriyākāritva*, in that a real entity is *sat*[23] as it possesses the power to give rise to the effect and having such power it gives rise to the effect and ceased at that instant.

(iii) Considering momentariness, how to maintain the identity of persons[24], objects and actions in references to past, present and future time? The philosophical schools are in search of the interpretation so that the normal transactions can be explained. The Sarvāstivadins have different views in this regard. One of them is *bhāvānyathatā*, according to which, says Dharmatrāta, the things remain the same though it changes in forms and quality as gold remains the same throughout its changing forms and mode.[25] Vasumitra explains the same in a little different manner with the conception of *avasthānyathātva,* which means the thing / being or actions exist all the time, though their mode or actions (*kāritra*) only changes. For example, the action is present when it is happening, past when done and over, and it is the future action when it is yet to be done.[26] Buddhadeva, another exponent of *Sarvāstivāda* also propounded the notion of *anyathānyathātva*, which explains that the same person remains as daughter, as a mother and as a sister in relation to different people at different times. Hence, the demarcation of past, present, and future are related to the same object or person or action.[27] Ghoshaka explains *lakṣaṇānyathātva*, according to which things remain identical for their characteristics. Thus, in different ways, maintaining the changing nature of phenomenal things the Sarvāstivādins attempted to solve the identity. Change and identity being solved they find the continuously changing things and beings as remaining identical in all the three times, that is, *trikālasat*.[28] These efforts of the Buddhist thinkers are exemplary about the need for identity, a form or notion of permanency with impermanence.

Buddhism has assumed that the empirical phenomena, the empirical *sat,* as impermanent with certain causal continuity of stream in all the above (ii.a), (ii.b) and (iii). By this, the change and unitary identity of the empirical are simultaneously preserved. The Vedānta does not assert some of the modes or concepts as they are in the Buddhism, and contested the same in the *Brahmasūtra Bhāsya*. However, the Vedāntic understanding of empirical person, things and beings, the world processes,it agree with the kinetic nature of the phenomena as Buddhist describes it. Not only the Buddhism or Vedānta, but also all philosophical, ordinary and scientific understanding can assert that the phenomena is kinetic. However, being kinetic or being

static are the modes or processes, which need to be operated on something substantial, some stuff or elements. There cannot be any empirical world that operates only by process or by substances. The empirical world goes by both, sometimes one merging in the other as in modern science *matter appears to be energy in some states of motion*. Hence, the polarity between substance philosophy and process philosophy, which has become possible for emphasizing one of the aspects is not appropriate in understanding the empirical world. Hence, both substance and process are accepted in the Vedānta.

Substantity and permanency can be seen to be echoed indirectly by the Buddhistsin the latter period as well throughout their overwhelming denial of the substance. Early Buddhism in general and the *Sarvāstivādins* in particular, in their conception of *skandha, dhātu* and *āyatanas*, reduce the reality into two fundamental substances – *nāma* and *rūpa*, i.e., *chitta* or consciousness and materiality, respectively. The atomic stage of the materiality is the elementary stuff that changes in modality and transforms from one appearance, function or energy to another in compounding or forming different composite elements, but throughout remains the same as materiality or energy. For example, the Earth element does not change into Fire elements, when the empirical composite things change form one to another form or object. The clay remains same and doesn't change into water, when it is used to create toy or pot. The same is the truth to all four atomic elements. The modal changes, which are *anitya* do not affect the substantial or elemental level, which is *nitya*. Thus, in the atomic or elemental states, which can be understood as the transcendental states of the materiality, there is *nityatā*, and in the compounded states, there is *anityatā*as the compounded things change in the form, volume and in relation to something or some state or with some function. In this way, the Buddhist implicitly accepts the *nityatā* in the elemental level and *anityatā* in the composited level. Here, they are similar to the Vedāntā that assumes the *nitya* among the *anitya* in the empirical world or *anitya*. This is *māyā*or appearance, but it appears at the bosom of *nitya*, which is the ground reality.

Regarding *citta* or consciousness, it can be argued that early Buddhism and Sarvāstivādins accept it asdistinct primordial stuff. *Citta* is usually translated as mind and *caitta* as mental, but as the elemental stuff can be appropriately called *cit* or consciousness. "What is consciousness? ' when asked, the Buddha answers that it is an element, invisible, boundless, all-penetrating.'[29] The same is called *citta*, emphasizing varieties of expressions (*citratva*), a mind for functions of thinking, and *vijñāna* for the activity of knowing and discriminating (*vijānate* – six types of cognitive awareness).[30] Buddhism does not elaborate on the initial form of*cit* or its evolution as *citta*, but its analysisof *chitta*, *chaittas*, and *chetāsikas*point to the same. *Chit* is also not described as an epiphenomenon of the specific material composition, though it is said to be found associated with some secondary phenomenon.[31] Even if it is an epiphenomenon, still it is a distinct substance or element (*dhamma*). Hence, *cit* or *citta* is assumed to be a different element (*dhamma*) when it is not composited and remain simple and pure. When composited it becomes momentary, have all characteristics of origination (*jāti)*, existence (*sthiti*), decay (*jarā*) and therefore is impermanent (*anitya*).[32] However, to argue in the way of Vedānta now, in all the 89 and 121 modification or sub-classification of the *chitta* or the consciousness, does it or any of the changes to materiality (*rūpa*)? If not, then it can be assumed that it is substantially a separate element (*dhamma*), and in this sense, it is substantially *nitya*. Its modes, phenomenal functions are impermanent, changing in the process, but as an element, it is permanent, which is transcendental reality, where it may not even be said as anything and remain undefined reality like *Ātman*. This is echoed in the Vedānta. It is *antaḥkaraṇa*, and has four principal functions as *manas, buddhi, cittam*, and *ahaṁkāra*. It is a created or projected substance of Brahman.[33] It is effected or regenerated or powered by subtlest part of food or such intakes.[34] The purity of food also makes it pure.[35] Its active normal function is lost in sleep, but in a controlled state of having established on Brahman, it manifests its essential nature, which is *nitya*.[36] This conveys that, in its created and functional aspects, mind is impermanent, but is permanent in its essence,

which is *Brahman* or *Ātman*, the pure consciousness or state of reality. In all these respects, the Buddhists may agree with the *Vedāntin*s.

Vedānta accepts the phenomenal impermanence, but objects to the extreme emphasis of momentariness, when it is applied to all levels of reality in the Buddhist categories of *nāma* and *rūpa*. The composited person or things are understood by the Buddhists (as in 'ii' above) in the terms of *avashtānyathātva,anyathānyathātva*, *lakṣaṇānyathātva*, and for *Vedāntin*s it is the Buddhist acceptance of identity, i.e., a form of unity in and through the changing phases of the things and beings. The next assertion of the Buddhists is the acceptance of all the time phases- past, present, and future – *trikālasat*. All these may not be objected from the *Vedāntin*s as the notionsbent towards permanency as indicated therein. These assertions of the *Sarvāstivādin*s, are not touched in the *bhāṣya* of *Āchārya* Śankara, but Buddhists are opposed for the conception of *kṣaṇabhangavāda* and *arthakriyākāritva*, and maybe, for this reason, these are vehemently criticized.

(iv) The Vijñānavādins have accepted *anitya* as the flux in the continuity of all levels of consciousness by conceiving the *citta santatis*. This is too obvious in phenomenal sense, and for this reason may be accepted by the *Vedāntin*s. How the transaction of knowledge and *karmic* retribution or fruition to be explained? In answer to this, the Vijñānavādins brought forward the concept of *ālayavijñāna*, a repository consciousness. Different texts give different pictures to this. Asvaghośa's *Tathatā darśana*, treats it as absolute universal consciousness. It is equated with the *Tathāgata garbha*, another notion of absolute consciousness. In this form it is *nitya*. The Vijñānavāda also accepts this conception of absolute and hence the conception of *nityatā*, and the seeds of actions in it are *anitya* due to the process of ripening (*vipāka*). The *Laṅkāvatāra Sūtra* makes an utter confusion by sometimes explaining it absolute and universal as *Tathāgata garbha* and sometimes narrating it as representing individual repository consciousness. The concept of *ālayavijñāna* has taken different incarnations in different scriptures. For our concern here, the notion adopts both *nityatā*

of the transcendental or absolute level and *anityatā* at the phenomenal level, and in this way does not deviate Vedānta.

The difference between Buddhism and Vedānta seems to be obliterated in the development of *trikāya* doctrine in Buddhism corresponding to the same levels in Vedānta. The *dharma kāya*, *sambhoga kāya*, and *nirmāṇa kāya* look similar to the transcendental *Sat* as *Brahman*, *Īśvara* or accomplished Self and *jīva* or abiding empirical self, respectively. The *dharmakāya* and *Brahman* are absolutely *nitya, sambhoga kāya* and *Īśvara* are relatively *nitya* and the *nirmāṇa kāya* and *jīva* are *anitya* in the sense that it supposedly dissolves .in the ultimate.Similarly, the conception of *tathāgatagarbha,* as absolute is nitya and corresponds to the conception of *hiranyāgarbha in Vedānta*. So far as the conception of absolute is concerned, the Vedānta and Buddhism exhibit that absolute *Sat* is *nitya*.

The Mahāyāna Buddhism and Vedānta keep on similarity about absolute and phenomena. The absolute is transcendental and indescribable and phenomena are empirical and amenable to verbalization. As per Nagarjuna, absolute is indescribable (*prapañchaiḥ aprapanñchitaṁ*), while for Vedānta, it is that which is not describable by language and thought or by thinking (*yad vāchā na bhyditaṁ..., yan manasā na manute*). The phenomenal world is*anitya* and its process of origination and decay are eternal (*anādi - ananta*) is for the most in and for some is illusory appearance,which is due to ignorance. All these go with the Vedānta and the Buddhism. The reason for this is that the reality is same and is seen here by both the Buddhists and Vedānta from the same perspectives. It proves the fact that the affinities between the perspectives, perceptions, and way of analysis may reveal the same Reality similarly. Hence, the reality in its transcendental aspect is seen *nitya* and indescribable and in phenomenal aspect is seen as *anitya* and appearance.

Looking at the subjective side of the approach of the *Sat*, the Buddhists and Vedānta strike the same chord of *trisvabhāva*. The comprehension of *Sat* is conditioned (*paratantra*) at first instances and the *Sat* is perceived / thought as something (*paratantra svabhāva*). It goes through our conception

(*parikalpita*), and the *Sat* is seen as can beconceived (*parikalpita svahāva*). Its true nature (*pariniṣpaṇṇasvabhāva*) is realized transcending the conditions and conceptualizations of the *Sat.* Vedānta conceives almost similar notions in different words as *vyāvahārika, prātibhāsika* and *pāramārthika* purview of the *Sat*. The first and second notions, in both the *Dhamma* and *Dharma* traditions, reflect *anityatā* and the third one the *nityatā* of *Sat*. Here, the talk of *nitya* and *anitya* is itself a phenomenal play which is manifested in variety of conceptualization and subjective factors, but due to the objectivity of *Sat* its unitary-ness is exhibited in different talks by different schools. Such talk of *tri svabhāvas* are maintained at the verge of conceptualization (*prapañcita)*, but it soon fades away when the *Sat* is realized. It is only realized as beyond conceptualization (*aprapañchita*) and silence (*śānta*), there is no coming or going, appearing or not appearing, *nitya* or *anitya*. About this pinnacle of realization of *Sat*, Nagarjuna agrees with the Vedānta – *nirvikalpa and niṣprapañcha*.

Concluding Remarks: The conceptualization and the subjective factors give rise to the views of the *Sat* as different as *nitya* and *anitya*. Empirically, *anitya* rules the roost as a sensible phenomenon keeping *nityatā* at the basis of it. Transcendentally, for the absolute, *anitya* cannot be conceived and for this reason, both the Buddhism and Vedānta explicitly hold the same view. Logically, when the differences are eliminated in the transcendental sense, then what remains is the same pristine *Sat*. The differences cannot be held, for the transcendental *Sat* is inaccessible to thought or language. One may question, 'how can it be said as same for all, when it is not accessible to conceptualization or words? ' It is because, in that case it is felt in the state of pure silence of the discursive thought, and there is no difference found in silence.*Paramārtha* is the matter of silence – intuition or realization (*pratyakṣābabodha*). Both the Buddhism and Vedānta again agree here. It is because, *Sat* being progressively realized convinces about its sameness. Its narrations intently point to the sameness, and no differences can be logically sustainable. Thus, difference regarding *nitya* and *anitya* of *Sat* obliterates in the *Dhamma* and *Dharma* tradition are same on the *Sat*. It proves that there cannot be variety about the verity.

[Acknowledgements: This paper was originally presented in 5th Dharma Dhamma Conference at Nalanda University, when working as Asst. Professor there. The author is thankful to all who have blessed for this paper.]

Notes and References

1. Most scholars, who took up the Pāli Buddhism, accepts *āstika nātika* distinction consider Buddhism in opposition to Vedānta.
2. Those who ascribe crypto-Buddhist upon Advaita Vedāntist fall in this group.
3. Prof. T.R.V. Murty and Prof. C.D. Sharma may come under this group.
4. *Yathā, Saumya, ekena, mṛtpiṇḍena sarvaṁ mṛnmayaṁ vijñātaṁ syāt, Vācārambhaṇaṁ vikāro nāmadheyaṁ mṛttiketyeva satyaṁ, evaṁ sadeva satyaṁ etyavadhāraṇāt*. *Chāndogya Upaniṣada*. 6.1.4. Also, see *Chāndogya Upaniṣada*. 6.2.1.
5. Śankara's Commentary in *Śrimadbhagavadgītā* 2.16.
6. *Nāsato vidyate bhāvo, nābhāvo vidyate sataḥ,*
   ubhayorapi dṛṣṭāntaḥ tu anayoḥ tattvadarśibhiḥ. *Śrimadbhagavadgītā*2. 16.
7. *Anityatā* is focused to get rid of egoism. *SN* 22.102. His silence on *caturdaśa avyākṛtas* makes the point clear that he remains silent when the eternality of transcendental *Sat*.
8. *Nibbānaṁ padaṁ acyutaṁ, Suttanipāta*, *Vijñāna sutta*, 2; *Nibbānaṁ akutobhayaṁ. Itivuttaka*, 112. 5; *Iha ṇandati pecca ṇandati*, *Dhammapāda*, 18. 4*; Nibbānaṁ paramaṁ sukhaṁ, Dhammapāda*, 203. *Saṁjutta Nikāya*, III, 109.
9. 'Sat' with capital 'S' is transcendental and with small 's' is empirical.
10. Differential subjective factors denote to the subjective marks on thinking and judging. These include personal choices due to cultures, habits, instincts, tendencies, coupled with maters like Baconian *Idol*s and Habermas's Backpacks.
11. Conceptualization and language are not applicable as objective factors, and individual inclination also is not applicable, then all descriptions that make differences will be silent. So, the subject matter will be the same, due to the original fact that the realized Sat is the same. If the object of realization were not same even the silence on it also would not be the same.
12. *Aniccalakkhaṇa, Dukkhalakkhaṇa & Anattalakkhaṇa Vatthu, Sabbe saṅkhārā aniccā"ti, yadā paññāya passati. Atha nibbindati dukkhe, esa maggo visuddhiyā*.

Impermanent are all compounded things. When one perceives this with true insight, then one becomes detached from suffering. This is the path of purification.

Sabbe saṅkhārā dukkhā"ti, yadā paññāya passati. Atha nibbindati dukkhe, esa maggo visuddhiyā.

Sorrowful are all composite things; he who perceives the truth of this gets disgusted with this world of suffering. This is the path to purity.

Sabbe dhammā anattā"ti, yadā paññāya passati. Atha nibbindati dukkhe, esa maggo visuddhiyā.

"All forms of existence are essence-less (*anattā*); he who perceives the truth of this gets disgusted with this world of suffering. This is the path to purity. *Dhammapada*, XX, (277, 278, 279).

Sabbe saṅkhārā aniccā, sabbe dhammā anattā, sabbe saṅkhārā dukkhā — HAHN, Thich Nhat,*The Heart of the Buddha's Teaching* (New York: Broadway Books. 1999), 22. Sometimes four characteristics are uttered, like impermanence (*anityākāra*), suffering (*duḥkhākāra*), emptiness (*śūnyākāra*), selflessness (*anātmākāra*) - Ulrich Timme Kragh, ed.,*The Foundation for Yoga Practitioners: The Buddhist Yogācārabhūmi Treatise and Its Adaptation in India, East Asia, and Tibet,*(Harvard: Harvard University Press, 2013), Volume 1, 144.

13. "All is impermanent. And what is the all that is impermanent? The eye is impermanent, visual objects [ruupaa]... eye-consciousness... eye contact [*cakku-samphassa*]... whatever is felt [vedayita] as pleasant or unpleasant or neither-unpleasant-nor-pleasant, born of eye-contact is impermanent. [Likewise, with the ear, nose, tongue, body, and mind]" *Saṁjutta Nikāya,* 35.43/vol. iv, 28

14. *Mahā-Parinibbāna Sūtta*, *Dīgha Nikāya*. 16.1.

15. *Saṁjutta Nikāya* 22.102.

16. 'What is the perception of impermanence? Here, Ānanda, a *bhikkhu*, gone to the forest or the root of a tree or a room that is void, considers thus: "Materiality is impermanent, feeling... perception... formations... consciousness is impermanent." He abides contemplating in this way impermanence in the five "categories affected by clinging." AN. 10.60/vol. v, 109.

17. *Īśāvāsyamidaṃ sarvaṃ yatkiñca jagatyāṃ jagat,*
tena tyaktena bhuñjīthā mā gṛdhaḥ kasyasviddhanam, Iśā. Upaniṣada. 1.1.

18. *Nityo'nityānāṃ cetanaścetanānām, eko bahūnāṃ yo vidadhāti kāmān,*
tamātmasthaṃ yo'nupaśyanti dhīrāḥ, teṣāṃ śāntiḥ śāśvataṃ netareṣām.
Kaṭha Upaniṣada., V. 13.

19. 'What is perception of impermanence? Here, Aananda, a bhikkhu, gone to the forest or the root of a tree or a void room, considers thus: "Materiality is impermanent, feeling... perception... formations... consciousness is impermanent." He abides contemplating in this way impermanence in the five "categories affected by clinging." *Aṅguttara Nikāya,* 10.60/vol. v, 109.

20. *Saṁjutta Nikāya* 12.61.

21. Sogen, Yamakami, *Systems of Buddhist Thought*, (Delhi:Bharatiya Publishing House, 1979), p.11.

22. *Saṁjutta Nikāya* 12.61.

23. Here *sat* is used not in the sense of permanency, but as phenomenal existence.

24. "It would be better, *bhikkhus*, if an uninstructed ordinary person regarded this body, made of the four great elements, as himself rather than the mind. For what reason? This body is seen to continue for a year, for two years, five years, ten years, twenty years, fifty years, a hundred years, and even more. But of that which is called mind, is called thought, is called consciousness, one moment arises and ceases as another continually both day and night." *Saṁjutta Nikāya* 12.61.

25. Nalinaksha Dutt,*Buddhist Sects in India*, (Calcutta:Firma KLM Private Ltd., 1997), 166.

26. Dutt, Nalinaksha, *Buddhist Sects in India,* 167-8.

27. Dutt, Nalinaksha, *Buddhist Sects in India,* 169.

28. *Kośabhāṣya*, Japnese Ed. P.470 – 1, IN Nalinaksha Dutt, *Buddhist Sects in India*, (Calcutta:Firma KLM Private Ltd., 1997), 169 -89.

29. Dīgha Nikāya., xi. 85 and xxxiii.16, IN George Grimm, M. Keller, Gimm, and Max Hope, ed., (*The Doctrine of Buddha*, (Delhi: MLBD, 1982), 86.

30. DN., i.13.

31. *Abhidharma Kośabhāṣya*, ii.23.

32. *Abhidharma Kośa*. ii.45-48. INSukomal Chaudhuri, *Analytical Study ofAbhidharma Kośa*, (Calcutta:Firma KLM Pvt., Ltd., 1983), 105.

33. "It (Brahman) projected the mind", *Bṛhadāranyaka Upaniṣada*, 1.2.1.

34. The grossest part of the food becomes wastage, the medium goes to the flesh,…the subtlest part becomes mind (*antaḥkaraṇaṁ*). Ch. Up., 6. 5. 1. "Desire, resolution, doubt, faith, lack of faith, steadiness, unsteadiness, modesty, knowledge, fear—all these are only (forms of) the mind." *Bṛhadāranyaka Upaniṣada*1.5.3.

35. *Āhāraśuddhau sattvaśuddhiḥ*—"From purity of food follows purity of the internal organ (mind). From the purification of the internal organ unfailing memory results. When memory is attained, all the knots of the heart are cut asunder". *Chāndogya Upaniṣada*. 7.26.2. Here food means all intakes for body, senses, and mind, as explained by Sankara in the *bhāṣya*.

36. *Māṇdūkya Kārīkā*, III. 35.

Bibliography

(NB. Original Books in Sanskrit and Pāli has been cited with sections and are kept in Bibliography with their Translators / Editors and in the Anthology / Book where they are to be followed.)

Abhidharma Kośabhāṣya IN *Analytical Study ofAbhidharma Kośa*, Calcutta: Firma KLM Pvt., Ltd., 1983.

Aṅguttara Nikāya, https://www.readingfaithfully.org/anguttara-nikaya-translated-by-bhikkhu-sujato-free-epub-kindle-pdf/

Bṛhadāranyaka Upaniṣada, IN The Principal Upaniṣads, edited, translated and annotated by S. Radhakrishnan, London: George Allen and Unwin Ltd., 1968.

Chāndogya Upaniṣada, IN The Principal Upaniṣads, edited, translated and annotated by S. Radhakrishnan, London: George Allen and Unwin Ltd., 1968.

Chaudhuri, Sukomal, *Analytical Study ofAbhidharma Kośa*, Calcutta: Firma KLM Pvt., Ltd., 1983.

Dhammapāda IN The Dhammapada, edited by Max Müller F (Sacred Books Of The East, Vol. X). London: Oxford University Press, 1881.

Dīgha Nikāya, IN *The Long Discourses of the Budha* A translation of the Dīgha Nikāya by Maurice Walshe, Boston: Wisdom Publications, 1995.

Dutt, Nalinaksha *Buddhist Sects in India*, Calcutta: Firma KLM Private Ltd., 1997.

Grimm, George, *The Doctrine of Buddha*, edited by M. Keller, Gimm and Max Hope, Delhi: MLBD, 1982.

Iśā. Upaniṣada, IN The Principal Upaniṣads, edited, translated and annotated by S. Radhakrishnan, London: George Allen and Unwin Ltd., 1968.

Itivuttaka translated by Ṭhānissaro Bhikkhu, 2013, https://www. accesstoinsight. org/ tipitaka/kn/iti/iti-than.pdf

Kaṭha Upaniṣada,IN The Principal Upaniṣads, edited, translated and annotated by S. Radhakrishnan, London: George Allen and Unwin Ltd., 1968.

Nhat, Thich, *The Heart of the Buddha's Teaching*, New York: Broadway Books. 1999.

Saṁjutta NikāyaTranslated by Sujato Bhikkhu, 18th October 2018, https://www.reading-faithfully.org/samyutta-nikaya-translated-bhikkhu-sujato-free-epub-kindle-pdf/

Sogen, Yamakami, *Systems of Buddhist Thought*, Delhi: Bharatiya Publishing House, 1979.

Srimadbhagavadgītā, IN*The Bhagavad Gita* with the Commentary of Sri Sankaracharya Translated from the original Sanskrit into English by Alladi Mahadeva Sastry, Madras: Samata Books, 1977.

Suttanipāta translated with Introduction and Notes by K.R. Norman, Oxford: The Pali Text Society, 2001.

Timme Kragh, Ulrich, ed., *The Foundation for Yoga Practitioners: The Buddhist Yogācārabhūmi Treatise and Its Adaptation in India, East Asia, and Tibet,* Harvard: Harvard University Press, 2013.

Programme Officer
Indian Council of Philosophical Research
Darshan Bhawan,
36 Tugalakabad Institutional Area
M.B. Road. New Delhi-110062
9811398620

Transcendental Self : An Epistemic Quest

Dr. Subasini Barik

Human consciousness is self-reflective. Human centric issues, as a major part of philosophical quest are unique in nature. Neither its problems become stale nor the doctrines, obsolete. With the passage of time different thinkers continued their philosophizing and try to establish their stand with proper justification regarding the real nature of the self. Hence it is obvious to accept that change is the law of nature and also everything is a flux as per the law of the universe. Some changes are visible though all are not. If we look back at the history of ideas we will see that the cognitive conception of consciousness is prevailing everywhere. Consciousness is conceived as the state of having or undergoing experience of human beings. Human growth in terms of its experiences whether mental or physical, has always been a matter of discussion since time immemorial. A discussion on consciousness therefore needs a minute study of the concept based on different thinkers' view points. For any study related to transcendental philosophy cognitive conception of consciousness and its analysis is essential.

American scholar Emerson believed that people were naturally good and that everyone's potential is limitless. Individuals are capable of generating completely original insight with little attention and care. With the passage of time different thinkers discuss the human nature/action differently with deep concerns. Truly self-reliant and independent individuals can create harmonious society by rising above individualism and creating space for the universal ideal/divine sphere. It is evident to mention here that Indian schools of thoughts are full of such instances that believe in the individual soul as a part and parcel of the universal soul. The American transcendentalists are mostly influenced by the oriental schools of thought, mostly by Veda and Upanishad in its original form. The quest is all about human progress in form of its cognitive faculty i.e. consciousness.

Indian spiritual thinker Sri Aurobindo describes man as a transitional being. Like Emerson he believes that an individual have unlimited capacity to rise above all egocentricity and break all barriers to create a better environment. The unique power of consciousness makes him move forward from the state of manhood towards the state of godhood. Such appearance of the higher self in the human world is just like the owning of some higher desires in an individual self by over powering some lower desires which is a kind of up-gradation within the individual self. Aristotle defines man as a rational being. This power of rationality in man enables him to compare and conquer both physically and mentally to become a virtuous person. It seems, far from being instinctively conditioned, a man is capable enough to control his own instincts and surroundings as per the whims and fancies of his life and motives. This is what secured him the advantage and superiority over his co-primates. Arthur Schopenhauer, the German thinker depicted man as a metaphysical being. One's own experience of suffering or disappointment leads one to question his very existence. A normal human being is subject to all kind of causes, conditions, desires and expectations relating to his life. A smooth life without any obstruction never raises any question regarding individual existence. But a deviation from the desired life in form of suffering/disappointment compels one to reflect upon. The inner self urge upon to go beyond the physical self and find out the pros and cons of the suffering that comes as a barrier to the individual growth. Such cognitive acts of the individual consciousness with a quest for the ultimate cause are a higher-order-action that defines the metaphysical nature of the self. Arthur Schopenhauer's life experience forced him to knock at every door but finally achieved at its solution in form of solace in Upanishadic commandment. It involves a transformation of the inner self during this life journey confirming the metaphysical aspect of the person.

Since the time of the Renaissance the western mind has undergone a scientific and technological revolution which is unique in human history. It is generally agreed that the key factor in this changeover from classical to the present scientific culture is scientific methodology and the effect this has had on all areas of human knowledge and outlook. The empirical character

of science, which confines itself rigorously to the data of sense and consciousness and refuses to validate anything beyond what can be empirically verified, has extended itself to all knowledge. Specifically for our problem, it denies any knowledge of the transcendent, since this latter cannot be verified by the methodology of experimental science. Briefly this is the problem as the philosophers put it especially those in the empirical tradition. But there is a more significant change than the explosion of knowledge under scientific methodology: the revolution that has been going on within man himself, namely the changed outlook with which he views his relation to all spheres of his existence, his place in the universe, his relation to the world of nature, his awareness of his autonomy with regard to all else that falls within his purview of existence. Previous to the scientific revolution man was the *subject* in relation to the world of nature. Now with his increasing control over his biological and mental existence as well as over the universe, he is increasingly conscious of his role as *creator*. This consciousness of human sovereignty over nature is one of the most significant features of the modern revolution. A consistent persuasion of such change for the betterment involves a second-order-activity and normally constitutes the higher-order-desires in human self. This rational acumen of man sometimes finds a sublimated expression in form of self-transcendence which is characteristically human. In other words, it is the prerogative of man and man alone, to be able to transcend the first-order-desires to awareness. Such self-transcendent desires in form of awareness could be understood as a second-order consciousness having for its object the very act of knowing. This reflective act of self-questioning, self-knowing, self-reliant as well as self-development is peculiar to man that makes him different from other species. It is man who consistently raise various questions about himself and about the reality of which he is an integral part and also about their inter relations. This irrepressible urge and the persistent effort to interrogate and understand the reality without taking its given aspect for granted, defies human consciousness. Though explanation and understanding of the (same) reality is the common object, they remain as distinct disciplines because of the very nature and scope of

the questions that the philosopher, scientists and spiritualists address themselves to. This uniqueness of man insists him to raise questions about ultimate reality, the primordial substance, force, the causal matrix of everything. Such persistent effort of man to interrogate and understand the world not only reveals some truth regarding their inter relations but also compels him to think about his own self. Who am I? What is the purpose of my life? Why such multiplicity within the world and most importantly what is eternal when everything is changeable? These questions explicate the essence of human existence in contrast to any other species of this universe.

Man stands supreme, not only in the scientific and technological fields, but extends his scholarship to the economic, artistic, cultural and even moral spheres of life. The uniqueness of individual self that enables his journey from human to super and supra human role indirectly and also confirms his transformation from a lower self to a higher self. Sri Aurobindo also describes how the doctrine of Trinity is compared with Hindu Scriptures. In Trinity " the father is above in the inner Heaven, the son or the Supreme Prakriti becomes Jiva of the Gita, descends as divine Man upon earth, in the mortal body; the Holy Spirit, Pure Self, Brahmic consciousness is that which makes them one and that also in which they Communicate"[1], Sri Aurobindo's neo-Vedantic formula is that – spirit is (becomes) matter and matter is (becomes) spirit, which is similar with Einstein's scientific theory E=mc2. Such kind of scientific explanation or even different religious explanations only reconfirm the spiritual aspect of the matter which is implicitly inherent in it. He also believes that the Holy Spirit which descended on Jesus Christ is the same spirit which is known as Brahmic or Higher Consciousness. In his words "… the Holy Spirit, Pure Self, Brahmic Consciousness is that which makes them **one** & that also in which they communicate. For, we hear of the Holy Spirit descending upon Jesus & it is the same descent, which brings down the powers of the higher consciousness into the simple humanity of the Apostles[2]. Sri Aurobindo viewed that the supramental Consciousness (Holy Spirit) descends on the body, mind, and life of man and transforms him as divine being or superman. His entire effort was to transform man spiritually to lead a divine life. Each soul is potentially

divine and the goal is to manifest that divinity within by controlling nature, external and internal. This was basically the message of practical Vedanta serves to humanity which was followed by Vivekananda, Gandhi, Aurobindo and many others.

Ken Wilber states: "the highest level does not violate the principle of the lower. It simply is not exclusively bound or is explainable by them." For scientists Ken: "The higher transcends but includes the lower and not vice versa. Thus, life transcends but includes matter; mind transcends but includes life; soul transcends but includes mind, and spirit transcends but includes soul"[3]. In a way through the discovery of a holistic universe, Science has created a foundation of human values: It is from the realization of individual consciousness everywhere, the great seers have created an invisible inter connection between the higher and the lower self. Vivekananda explains: "Why should you do good to others? Because that is the only condition of life; thereby you expand beyond your little self, you live and grow. All narrowness, all contractions, all selfishness is simply slow suicide"[4]

As a part of the modern world, we ourselves do not relate our problems and needs to transcendent principles for solutions we ourselves should be capable of creating like our ancestors. Man is a transitional being, he is not final; for him and high beyond him ascend the radiant degrees which climb to a divine super manhood. The step from man towards superman is the next approaching achievement in the earth's evolution. Such a process of evolution is manifestation of transcendence. Manifestation implies more than an object- a being who is capable of listening and responding to the world i.e. emergence of holistic consciousness towards a liberated world. Even Christianity believes that man is the expression of divine will. But man has the capacity to transcend space, time, experience; The Vedanta ensures two highest eternal principles of life:

1. The Infinite is the background behind the finite (Atman = Brahman. *Aham Brahmasmi*[5])
2. An essential Holistic realities of life and Universe,(*Ekam Eva Advitiyam*[6])

Such a supra-rational background provides a Divine providence for ethical values to transcend beyond all negativity that opens a path towards a better world, a liberated world.

Arthur Schopenhauer, who is widely known as a pessimist thinker ultimately accepted Vedantin's view points as a solace to his deeply upsetting life. A thorough study of his philosophy would prove him as a self-transcendent person, who probably attains salvation towards the end of his life. The rational conscious self, Schopenhauer along with his motivational force 'Will' continuously engaged in the search for truth (real knowledge) for the worldly sufferings. "Only after the inner being of nature (the will-to-live in its objectification) has ascended vigorously and cheerfully through the two spheres of unconscious beings, and then through the long and broad series of animals, does it finally attain reflection for the first time with the appearance of reason(*Vernunft*), that is, in man."[7] Finally probably he could manage to find some answer to his metaphysical perplexities in Buddhist thought and accepted the Upanishadic thought towards the end as a final solution. This long journey of a pessimist who went through all worldly upheavals and finally finds solace in Vedantic thought '*Tat-Tvm-Asi'* is a significant journey from real to unreal, from ignorance to knowledge, from suffering to state of Ananda i.e. enlightenment. Such a state of individual self is like a state of liberation which might be called a state full of love, compassion and bliss.

Upanishad teach us self-realization, '*Aham Brahmasmi'* (I am Brahman) and *Tat-Tvm-Asi* (I am that). The early life of Schopenhauer probably provided enough reason to have the need for metaphysics. Understanding/realizing the real identity of the individual self (*atman*) with the primordial entity the Absolute being (*Brahman*) is a purely an internal process but with definite reason. Reasons could be external but the realization bridges the gap between the individual and the Universal self. Realization of *Tat-Tvm-Asi* during one's own life probably eliminates/reduces all kinds of worldly sufferings and leads one towards an enlightened/liberated state of mind. Such realizations could be slow but definitely opens path with a positive direction. Change is the law of nature.

It takes one back to Buddhistic four noble truth: World is full of suffering. Sufferings have their own causes. By reducing/eliminating the root cause one can get rid of sufferings from one's own life.

Every individual seeks bliss, a positive form of self-satisfaction. The unfulfilled desires of the individual self cause disappointment which further cause sufferings like mental agony or pain. Some unfulfilled desires of Arthur Schopenhauer's life compelled him to look deep down for its root cause as well as its remedy. During this journey of life the individual starts looking beyond his self-centric interests and tries to find some relief with the company of similar affected individuals. I feel like mentioning here that if individual interest gets fulfilled whether good or bad the person never looks back for others comment. It is only if his interest/desire faces any kind of setback he looks for others (kindness). Hence, it is evident enough that during this course of life the great thinker looked beyond and finally realized the ultimate truth of life. To quote Schopenhauer "The 'wonder' that first inspired us to philosophize was not a positive experience, rather, it was inspired by the evil and wickedness in the world"[8]. May be this is the reason he was motivated by the Kantian thought of phenomena and noumena at the initial phase of life and later on got deeply influenced by Buddhist philosophy and finally towards the end found solace in the Upanishadic thought *Tat-Tvm-Asi*. For him man's existence is the manifestation of the 'will' to live, which is a brute force and also is the root of all existence. This 'Will' the noumenon objectifies itself in the multiplicity of phenomena. It is like the macrocosm manifests in microcosm. This vital force 'Will'of Schopenhauer may be compared with the Upanishadic ultimate principle. The original Vedic thought influences the western thought in a much higher level that highlight the beauty of oriental philosophy as well as reflects the significance of universal thought. With reason and reflection Schopenhauer differentiated the phenomenal and noumenal world (Kantian view) but the suffering of this phenomenal world probably pressed him to go metaphysical with a Buddhistic approach. And finally he found some relief in form of 'solace' in Vedantin thought,i.e.Tat-Tvm-Asi.

This complete process involves the long journey of both physical and mental aspect of the cognitive self. Through introspection with a motive one

gets philosophical, and with thorough experimentation the individual evolves from one type to another. Like the scientific physical growth from childhood till death the individual also undergoes constant mental growth. If such internal growth motivates one to connect him with another, the world around him, the environment, then the valuational aspect starts. From self-centric thought one looks forward towards the mass-centric thought. This process of continuous introspection and evolvement makes one a reflective self evaluator and helps in growing up from one state of lower self to another state of higher self.

During this process the individual self learns to rise above the person contingent desires (the first order desires) to acquire the other higher order desires and to get morally stronger. He starts not only thinking but also acting for mass interests (for others). This process of self transformation in individual self makes him realizes his own presence in and within the Universal self (*Tat-Tvm-Asi).* Rising above the multiplicity of world is a kind of denial to the individual self as well as a realization of his own presence in the universal self. This complete realization of becoming one with ultimate reality (*Aham Brahmasmi*) could be a state of liberation from worldly suffering, extinguishment of all negative forces or a state of Bliss or eternal joy. This state is a state of complete cessation from sufferings, hence a state of Bliss or Ananda.

Such process of self-evolvement is a continuous process of introspection when, the subject, the cognitive self enter into the state of self-transcendence, which is more of a spiritual experience within this world and can be stated as a state of eternal joy. With enough reason and reflection the German thinker not only tried to get rid of these worldly sufferings but also got connected with others with the help of his moral stances like love and compassion. Aurobindo, Vivekananda along with many others like Emerson and Schopenhauer have realized this unique experience of combining and comparing the inner and outer conflicts within themselves in their spiritual journey. Such a realization of the cognitive self brings change within the person that ensures internal as well as eternal evolvement. This journey is not confined to any sect, cult or geographical confinement; rather such epistemic

quest is believed, experimented and finally proved many times by many individuals in and around world in different time zones. But this quest is closely connected to the oriental scholastic thought of *Tat-Tvam-Asi,* i.e. the realization of individual soul as a part and parcel of the universal soul. This state of awareness may be recognized as the state of self-transcendence. The epistemic quest of the self evolvement finds its result in a positive state of self transcendence, the famous Upanishadic Mahavakya, *Ahm Brahmasmi.*

BIBLIOGRAPHY

1. Dillon, DA, *Transcendence and Salvation*, ejournals.bc.edu/ojs/ index.php/cts
2. Frankfurt, H.G., 1971, "Freedom of the Will and the Concept of a Person", *Journal of Philosophy*

REFERENCE

1 Sri Aurobindo, *Essays on Gita*, Vol- 13, , SABCL, Sri Aurobindo Ashram Trust, Pondicherry,1971, P-154

2 Ibid P-154

3 Ken Wilber–*Quantum questions*- Shyambala N. York. 1984. p-16

4 *CompleteWorks of Swami Vivekanananda*. Vol-7 p-47 Pub by the Swami Vivekananda Centenary, Calcutta, in 1963.

5 Brihadaranyaka Upanishad 1.4.10 of the *Yajur Veda*

6 *Upanishads*/10/1

7 Schpenhauer *A. WWR*-Vol-ii p-160, Cambridge edition translation

8 Schpenhauer *A. WWR*-Vol-ii p-171, Cambridge edition translation.

Associate professor,
Department of Philosophy
Deshbandhu college, Delhi University.
New Delhi-110019
Mob. 9868849908
sbarikdu@gmail.com

Understanding the Seven Steps of Ghatastha Yoga in *Gheranda Saṃhita*

Debiprasad Pramanik

Gheranda Samhita is one of the most popular texts of Hatha Yoga but it is not considered as a traditional Hatha Yoga scripture because Gheranda (the principal speaker) explains yoga in this text by the name of *GhatasthaYoga*. This text is a conversation between the master Gheranda and his disciple Chandakapali. Gheranda considers the human body as a *ghata* (pot of raw clay) and as the main instrument of yoga that leads to *tatvagyan* (knowledge of the reality). According to him, the body is the cause of action (ethical or otherwise) and the action is in turn the result of the body and this cyclical process continues as long as this body remains immature like a pot of raw clay. It is through the fire of yoga that one needs to make the body mature (G S I/6, 8). Like in *Ashtanga Yoga*, that derives its name from the eight limbs of the discipline, in this text Gheranda explains the seven kinds of *sadhanas* (disciplines which lead to perfection) for the *ghata siddhi* (perfection of the body) which is why it is known as *Saptanga Yoga.*

Gheranda describes the seven steps of yoga quite methodically and moves from the gross to the subtle order. He argues that these steps begin with *shodhana*(purification), a traditional way of the Tantras. Historically speaking, most of the spiritual practices and rituals start with purification processes such as *puja* and *yajna* followed by *nayas* (establishing the foundation) and *aachman*(a purification ritual). Following a similar logic, Gheranda begins his *ghatasadhana*with the purification of the *ghata* through 21 techniques of the *shatkarmas*. Other Hatha Yoga texts such as *Hatha Yoga Pradipika* also recommend *shatkarma* before the practice of *pranayama* if

there are impurities in the *nadis* (subtle channels in the body through which energy flows). However, there, it is not recommended as an essential component of yoga. As opposed to this, in *GherandaSamhita*, *the shatkarmas*become imperative since they not only purify the body and overcome diseases but also transform the corporeal into a *deva-deha* [(divine body); G S I/18].

The second part of the *Ghatastha Yoga* focuses on *drdhata* (strength) through *asanas*. Rishi Gheranda accepts the existence of 84 lakhs of *asanas* mentioned in *Shiva Samhita* but according to him, only 32 of these are enough for the modern man which is what constitutes the organising principle of *GherandaSamhita*. This scripture demonstrates how through these 32 *asanas* one can be free from all kinds of diseases thereby leading to a favorable result in this mortal world.

The third part of *Ghatastha Yoga* is *sthairyam*(steadiness) through *mudra*, *bandha*, and *dharana*. Rishi Gheranda explains 25 *mudras* including four *bandhas* and five *dharanas*. These practices help in fighting diseases, in becoming as powerful as a lion, and ultimately lead to liberation. They further contribute toward the mastery of sixteen *adharas* (the limbs of the body considered as a base). It is even believed that through *sthairyam*, one could conquer death, remain young forever, and can overcome hunger, fear, thirst, and laziness. The yogi's body becomes more beautiful and illuminated while the natural elements such as fire, wind, and water cannot harm it in any way. This trained and indomitable physique is also equally capable of neutralising even the most venomous of serpents. In addition, through these practices, the tongue produces the juice/nectar that awakens *kundalinishakti*. The yogi realises the ultimate union of *Shiva* and *Shakti* and understands himself as a Brahman. He can levitate and is finally able to achieve liberation.

The fourth part of this yoga is *dhairyam* (calmness) through the practice of *pratyahara*. In *Ashtanga Yoga*, MaharshiPatanjali considers *pratyahara* after the *pranayama* but in *Saptanga Yoga*, it is the fourth step of *sadhana* before *pranayama*. Through the practice of *pratyahara*, the yogi is able to

achieve equanimity, get rid of all materialistic desires, and obtain mastery over the five senses.

After achieving inner peace, the yogi should proceed to the fifth step of *Saptanga Yoga* that is *laghavam* (lightness) through the *pranayama*. However, this should be done keeping in mind the appropriate place, time, season, food, environment, and purification of the *nadis*. Rishi Gheranda gives a lot of importance to this stage of *sadhana*. He explains in detail the place where a yogi should live, the ideal season to start yoga *sadhana*, the suitable time of practice, and the food that is recommended for the practitioner. According to him, by practicing 10 *pranayamas* (eight *kumbhakas* and two *nadishodhana*exercises), the yogi almost becomes like a God. The three-levels of *pranayama* are basic, intermediate, and advanced. At the basic level, the yogi starts sweating, at the intermediate level, he/she experiences a tremor around the waist, while at the advanced stage, the yogi is finally able to levitate. Through *pranayama*, the Yogi is able to fight all diseases, maintain good health, and awaken the *kundalinishakti*. He/she enters into a state of happiness, bliss and trance, free from old age and death while the mind itself merges into the *atman*.

Pratyaksham (realisation) is the sixth step of *Saptanga Yoga* and this can be achieved through *dhyana*. Rishi Gheranda explains three kinds of *dhyana*: the *sthula* (gross), *jyoti* (light) and *sukshma* (subtle). By practising*dhyana*, the yogi can reach any level of success, can realise his/her true self and achieve a state that is even rare for the Gods to attain.

The final aim or the seventh step of *Ghatastha Yoga* is *nirliptam* (to become one with the supreme consciousness) by attaining *samadhi*. Like all the other traditional yogis, Rishi Gheranda too considers *samadhi*to be the ultimate objective of yoga. He describes six types of *samadhi* through which the yogi can detach himself/herself from his/her body and mind. He/she can merge with the *Paramatman* (the Supreme Self) and realise that he/she is one with the *Brahman* (the Supreme Soul). He/she can see the Supreme Soul in all beings and all beings in the Supreme Soul. This leads him/her to *mukti*

(liberation) and he/she eventually gets rid of the cycle of birth and death on this earth.

REFERENCES

1. Aurobindo, Sri. 1999. *The Synthesis of Yoga. Pondicherry:* Sri Aurobindo Ashram Press. Print.
2. Birch, Jason. 2011. *"The Meaning of Hatha in Early Hathayoga."* Journal of the American Oriental Society, 131(4): 527–54. Print.
3. Digambarji, Swami and M. L. Gharote. 1997. *Gheranda Samhita*. Pune: Kaivalyadhama. Print.
4. Mallinson, James and Mark Singleton. 2017. *Roots of Yoga*. London: Penguin. Print.
5. Saraswati, Swami Niranjanananda. 2011. *Gheranda Samhita.* Munger: Bihar School of Yoga. Print.
6. Saraswati, Swami Niranjanananda. 1993. *Yoga Darshan.* Munger: Bihar School of Yoga. Print.
6. Swami, Muktibodhananda. 1999. *Hatha Yoga Pradipika.* Munger: Bihar School of Yoga. Print.

Assistant Professor,
Auro University, Surat
debiprasad.pramanik@aurouniversity.edu.in
9711453104